TEXT DARK AND LIGHT

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180742

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81 S598 P. G. Accession No. H2626

Author सिंह, बच्चन. 180742

Title बिहारी का नया मूल्यांकन

This book should be returned on or before the date last marked below. / 1960.

# बिहारी

का

# नया मूल्यांकन

डा० बच्चन सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी–१

प्रकाशक
ओम्प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
मानमन्दिर, वाराणसी–१

संस्करण : प्रथम
अक्तूबर, १९६०

मूल्य : ३ रु० ५० न. पै.

मुद्रक
महताब राय
नागरी मुद्रण (ना० प्र० सभा), वाराणसी

# विषय-सूची


| | | पृ०सं० |
|---|---|---|
| १ रीति-काव्य का हेतु | ... | १—१० |
| २ परंपरा और गतिशीलता | ... | ११—२६ |
| ३ बिहारी के प्रेम का स्वरूप | ... | २७—५५ |
| ४ शृंगारेतर भाव-व्यंजना | ... | ५६—६४ |
| ५ अभिव्यक्ति के प्रसाधन | ... | ६५—९१ |
| ६ व्यंजना और सतसई | ... | ९२—१०० |
| ७ भाषा | ... | १०१—१११ |
| ८ मुक्तक-दोहा | ... | ११२—१२१ |
| ९ बिहारी का देखा हुआ समाज | ... | १२२—१३० |
| १० ऐन्द्रिय बोध और बिहारी | ... | १३१—१३६ |

जहाँ कवि रूढ़ियों से सर्वथा मुक्त होकर सौंदर्य की प्रभावान्विति का वर्णन करता है वहाँ पाठकों की ऐंद्रिय चेतना को सर्वाधिक उद्बुद्ध करने में शक्य होता है। स्वयं सौंदर्य किसी अंग विशेष में नहीं होता और न तो अंगों के सुषम संस्थान में ही उसकी संस्थिति स्वीकार की जा सकती है। सब मिला जुला कर वह ऐसा प्रभाव होता है जो हमारी रागात्मिका वृत्ति को उभाड़ देने में पूर्णतः समर्थ होता है। प्रभाव मूलक सौंदर्य का एक उत्कृष्ट चित्र देखिए—

**प्रभावात्मक**

**अंग अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह।**
**खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह॥**

मुक्ताफल की छाया के तारल्य की भाँति अंगों में प्रतिभासित होनेवाला लावण्य सौंदर्य है। नायिका के अंग अंग में छवि की चमक निरंतर उभरती जाती हैं। यद्यपि कवि का मुख्य कथ्य यही है फिर भी इतने से उसके लावण्य को उचित ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसके लिए उसकी छवि द्वारा उठती हुई तरंगों का जो परिवेश निर्मित किया गया है, उसके द्वारा उसकी तनुता भरी भरी सी लगती है; वही नायिका के सौंदर्य को ऐंद्रिय और प्रभावापन्न बना सका हैं। इस दोहे की श्रेष्ठता किस पर निर्भर है, अभी यह प्रश्न अनुत्तरित सा ही रह गया। इसका उत्तर पाने के लिए एक दूसरा दोहा भी देखना पड़ेगा—

**अंग अंग नग जगमगत, दीप सिखा सी देह।**
**दिया बढ़ाएँ हूँ रहै बड़ो उजारो गेह॥**

नायिका के अंग अंग के (आभूषणों के) नग उसकी दीप शिखा सी देह से जगमगाते रहते हैं। इसलिए दीपक बुझा देने पर भी घर में बड़ा उजाला (प्रकाश) रहता है।

इस दोहे में भी देह की द्युति का ही वर्णन किया गया है। दोनों दोहों में छवि की लपटों या दीपशिखा की निर्धूम लौ के प्रभावों की व्यंजना की गई है। पर जहाँ पहले का प्रभाव जीवन और जगत की अनुभूत छबियों से बाँध दिया गया है वहाँ दूसरे का प्रभाव एक मिथ्या और काल्पनिक सत्य से बाँधा गया है। पहले दोहे में छवि की लपट और उससे उत्पन्न प्रभाव के अंतरसंबद्धों को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि पाठकों के राग तत्त्व को वे सहज ही छू

देते हैं। दूसरे दोहे में दीपशिखा सी देह तथा प्रकाश का अंतरसंबंध स्थापित ही नहीं हो पाया है। इन संबंधों को बहिःसंबध ही कहा जायगा। यह चमत्कार विधायक तो है पर राग विधायक नहीं। खेद है कि विशुद्ध प्रभावात्मक रूप चित्र बिहारी में कम हैं।

रीति-कवियों ने नायिका के सहज सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना उसके अलंकृत सौन्दर्य पर। रीतिकालीन वैभव-विलास के अनुकूल नायिकाओं का भी उन्मादक चित्र खींचना उनकी रुचि के अधिक अनुकूल था। वस्त्राभूषण नायिका के आभिजात्य के सूचक, शालीनता के रक्षक, सौन्दर्य के अभिवर्द्धक और नायक के प्रेम के उद्दीपक हैं। वे अपनी रंगीन छाया से नायिका में नवीन आकर्षण और मादकता भर देते हैं। इस तरह के सौन्दर्य चित्र बिहारी में ढेर के ढेर मिल जायँगे। एक एक करके कुछ उदाहरण देखिए—

**वस्त्राभूषणों के बीच**

**(१) सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छबि होति।**
**जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन-ज्योति॥**

पँचतोलिया एक प्रकार का अत्यन्त बारीक महीन वस्त्र है, उसकी पूरी साड़ी तौल में केवल पाँच तोले की होती है। इस वस्त्र के पहनने से नायिका की शोभा विशेष बढ़ जाती है। 'स्वभावरमणीयानि मण्डितानि अतिरमणीयैः भवन्ति।' स्वभाव से ही रमणीय नारी वस्त्राभूषणों से मंडित होने पर और भी रमणीय हो जाती हे। 'धनिकों के किसी उद्यान में किसी-किसी ऊँचे स्थान से जल का झीना तथा विस्तृत प्रवाह गिराया जाता है यह जलचादर कहलाता है। किसी-किसी जलचादर के पीछे से जगमगाती हुई दीपावली बड़ी शोभा देती है। इसी दीपावली को बिहारी ने 'जलचादर के दीप' कहा है। पँचतोलिया से आवृत्त नायिका के शरीर की पीताभ कांति जलचादर के पीछे रखे हुए दीपकों की भाँति जगर-मगर करती हुई शोभित हो रही है।

यहाँ पर भी वही पुराना प्रश्न उठता है कि यदि सौंदर्य का यह चित्र श्रेष्ठ है तो क्यों? इस क्यों का उत्तर ही मूल्यांकन है, छंदों का अन्वय मात्र न तो आलोचना हे और न मूल्यांकन। श्वेत पँचतोलिया वस्त्र से झाँकता हुआ नायिका का पीताभ सौन्दर्य उसी प्रकार से शोभन प्रतीत होता है जिस प्रकार से जलचादर के पीछे से जगमगाती हुई दीप शिखाएँ। इस चित्र की

श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर है कि कवि की वास्तविकता से कहाँ तक संबंध स्थापन कर सका है और स्वयं वह वास्तविकता किस प्रकार की है। नायिका की छबि मानसिक वास्तविकता ( ~~Psychic~~ Mental reality ) है और जलचादर का दीप भौतिक वास्तविकता (Physical reality)। निश्चय ही इनके संबंध स्थापन में कवि को सफल कहा जा सकता है। अप्रस्तुत ने नायिका के पारदर्शी सौन्दर्य को जिस ढंग से प्रत्यक्षीकृत किया है वह सराहनीय है।

प्रभावात्मक चित्र की अपेक्षा यह अधिक रंगीन और रंजक है किंतु यह उतना संवेदनात्मक नहीं कहा जा सकता। उतना संवेदनात्मक का अर्थ यह नहीं है कि यह संवेदनात्मक नहीं है। यह केवल संवेदना के दर्जे का सवाल है।

**( २ ) छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै नीलै अंचर-चीर।**
**मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी कै नीर॥**

इस सौन्दर्य चित्र में जो संबंध स्थापन किया गया है, वह भी कृत्रिम ही है पर इसमें साध्यवसान संवेदना के रूप में हुआ हैं। इसलिए इसकी संवेदनात्मक गहराई भी श्लाघ्य है। उत्प्रेक्षा के रूप में जो अप्रस्तुत ले आया गया है वह पहले उदाहरण में ले आए गए अप्रस्तुत की अपेक्षा अधिक व्यापक और सार्वजनीन है। पर पहले उदाहरण की तरह यह न ही रंजक है और न प्रभावोत्पादक। बात यह है कि इसका अप्रस्तुत लोकसिद्ध है जो सामान्यतः उपमा के क्षेत्र में गृहीत होता हैं। अथवा अयथास्थान प्रयुक्त होने के कारण यह अपेक्षाकृत श्रीहीन लगता है।

**( ३ ) चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।**
**मानहु सुर सरिता विमल, जल उछरत जुग मीन॥**

इसका अप्रस्तुत भी संभावनामूलक है। लेकिन संभावनामूलक अप्रस्तुत में भी दर्जों का अन्तर स्वीकार करना होगा। पहले और दूसरे उदाहरणों की अपेक्षा इसका अप्रस्तुत प्रस्तुत का एद्रिय बिंब उपस्थित करने में असमर्थ है। उछलते हुए 'युगमीन' चमकती हुई चंचल आँखों का दृश्य खड़ा करने में निर्बल प्रतीत होते हैं।

इस तरह के रूप-चित्रों में बिहारी की प्रतिभा जहाँ रम सकी है वहाँ के चित्र निश्चय ही संवेद्य बन पड़ हैं।

यद्यपि बिहारी ने कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा फिर भी उनकी दृष्टि से लक्षण ओझल नहीं थे। उनपर रीति परंपरा और शास्त्रीय रूढ़ियों का गहरा प्रभाव था। नायिका का नख-शिख रूप वर्णन संस्कृत कवियों का भी प्रिय विषय था। रीतिकाल में तो नख-शिख वर्णन की अत्यधिक बहुलता दिखाई पड़ती है। बिहारी ने नख-शिख का वर्णन क्रमबद्ध रूप में नहीं किया है पर अधिकांश रूपाधायक अवयवों का जो चित्रण उन्होंने प्रस्तुत किया है वह परंपराभुक्त ही है। कुछ उदाहरण देखिए—

**परंपरा**

केश—

१—सहज सचिक्कन स्यामरुचि सुचि सुगंध सुकुमार।
गनत न मन पथ अपथ लखि बिथुरे सुथरे बार॥

भौंह—

२—चितवनि भौंह कमान गढ़ रचना बरुनी अलक।
तरुनि तुरंगम तान, आधु बँकाई ही बढ़ै॥

नयन—

३—बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनान तें हरि नीके ये नैन॥

मुख—

४—सूर उदित हू मुदित मन मुख-सुखमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तें निश्चल चखनि चकोर॥

५—पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँपास।
नित प्रति पून्योई रहत आनन ओप उजास॥

हास्य—

६—नेकु हँसौंही ब नि तजि लख्यौ परत मुख नीठि।
चौका चमकनि चौंध में परत चौंधि सी डीठी॥

कटि—

७—ज्यौं-ज्यौं जोबन जेठ दिन कुच मिति अति अधिकाति।
त्यौं त्यौं छिन कटि छपा छीन परति सी जाति॥

जंघा—

८—जंघ जुगल लोयन निरे करे मनो बिधि मैन।
केलि तरुन दुख दैन ए केलि तरुन सुखदैन॥

ऐंडी—

९—पाय महावर देन कों नाइन बैठी आय।
फिरि फिरि जानि महावरी एँडी मीड़त जाय॥

पगतल—

१०—पग पग अगमन परति चरन अरुन दुति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठत दुपहरिया से फूलि॥

उपर्युक्त उदाहरणों में ( अंतिम को छोड़कर ) जिन अवयवों का सौन्दर्य वर्णन हुआ है वे हमारे सौंदर्य-बोध को किंचित् मात्र भी उद्‌बुद्ध नहीं कर पाते। इनमें बाह्य वास्तविकताओं से जो संबंध-स्थापन हुआ है वह कृत्रिम है। सूर्योदय होने पर भी चकोर का मुख-सुषमा की ओर देखना चमत्कारमूलक है संवेदना-मूलक नहीं। यह चमत्कार भी घटिया दर्जे का ही कहा जायगा। 'पत्रा ही तिथि पाइये' के अन्तरसबंध तो वास्तविकता से और भी दूर है इसलिए उसका सौन्दर्य उर्दू शायरी की विदग्धता का भी अतिक्रमण कर जाता है। उसी प्रकार यौवन को ज्येष्ठ का दिन और कटि को रात्रि कहना कितना असंगत है। यह यथार्थ जगत से कितना दूर है। काव्य में प्रयुक्त अप्रस्तुत हमारे अनुभव जगत से जितने दूर होंगे, प्रस्तुत-अप्रस्तुत का संबंध-स्थापन जितना ही कृत्रिम होगा काव्य पाठकों को रसावेश की स्थिति में ले आने में उतना ही असमर्थ होगा। 'हरिनी के नैनान' 'केलितरुन' आदि तो पिटे-पिटाए अप्रस्तुत हैं ही।

रीति-काव्यों में संयोग-शृंगार के प्रति जितनी ललक दिखाई पड़ती है, उतनी वियोग-शृंगार के प्रति नहीं। संयोग-शृंगार का मूलाधार शारीरिक आकर्षण है 'जो अनेक प्रकार के रूपों, भंगिमाओं, चेष्टाओं, वाचिक और शारीरिक विकारों, मानसिक दशाओं, आदि में प्रस्तुत होता है[1]।' इस प्रसंग में कवि परंपरा से सुरति, षटऋतुवर्णन, बिहार, मद्यपान, क्रीडा, अष्टयाम आदि का वर्णन करते आए हैं। दर्शन, श्रवण, स्पर्श, संलाप आदि के सहारे

**संयोग**

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १७२

संयोग का महल खड़ा किया जाता है, इसलिए इनका समावेश भी इस काल की कविताओं में खूब हुआ है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन कवियों का—विशेष रूप से बिहारी का मन—क्रीडा-परक प्रेम में बहुत अच्छी तरह रमा है। इसके फलस्वरूप इनकी सतसई में सुरति-चित्रों का भूरिशः उल्लेख हुआ है। जिस हाव-योजना या भंगिमा-वर्णन के लिए बिहारी की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है उसके मूल में भी यही प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

**भंगिमाएँ**

भंगिमाएँ दो प्रकार की मानी जा सकती हैं—स्वाभाविक और सचेष्ट। स्वाभाविक भंगिमा वह होती है जिसमें अपने व्यापार के मूल में व्यक्ति का कोई मनोविकार अनुस्यूत नहीं रहता। सचेष्ट भंगिमा सोद्देश्य होती है। एक विशेष प्रकार की भंगिमा जो संभोगेच्छा सूचक होती है काव्य-शास्त्र में 'हाव' कही जाती है। बिहारी सतसई में दोनों प्रकार की भंगिमाओं के चित्र मिलेंगे। पर शृंगार-काव्य में निरपेक्ष भंगिमाओं का कोई महत्व नहीं है। इसलिए स्वाभाविक भंगिमाओं को भी द्रष्टा की प्रतिक्रियाओं से बाँध दिया गया है। दूसरे शब्दों में इन भंगिमाओं को नायक की दृष्टि से अर्थ दिया गया है। पहले हम इसी का विवेचन करना चाहेंगे। एक उदाहरण देखिए—

**जज्यौं उझकि झाँपति बदनु, झुकति बिहँसि सतराइ।**
**तत्यौं गुलाल मुठी-मुठी झझकावत प्यौ जाइ॥**

यह फाग का अवसर है। नायक नायिका पर गुलाल फेंकने के लिए प्रस्तुत है। आँखों में गुलाल पड़ जाने के भय से वह घूँघट में मुँह ढाँपती है, कुछ झुक जाती है, फिर हँस देती है, आखिर में झल्ला भी जाती है। नायक को उसकी चेष्टाएँ इतनी सुखद प्रतीत होती हैं कि वह फिर-फिर उन्हें देखने की अभिलाषा से झूठे ही मुट्ठी ताने रहता है। यहाँ चेष्टा का सुख कितना काम्य हो उठा है। इस खेल का एक दूसरा दृश्य देखिए—

**नाँक चढ़ै सीत्कार सीबी करै जितै छबीली छैल।**
**फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल॥**

इसके अवतरण का उल्लेख करते हुए रत्नाकरजी ने लिखा है—'नायक नायिका दोनों कहीं जा रहे हैं। मार्ग का एक भाग तो लोगों के चलते चलते

चिकना हो गया है और दूसरा भाग कँकड़ीला है। नायक, प्रेम के मारे, नायिका को तो अच्छी ढुरहुरी पर लिवाए जाता है, और स्वयं उसके साथ-साथ चलने के कारण कँकड़ीले भाग पर चलता है जिससे उसके पाँव में कँकड़ियाँ चुभती हैं। उसकी चेष्टा से यह बात ज्ञात करके नायिका प्रेमाधिक्य के कारण उसकी पीड़ा से पीड़ित होकर, सीबी करती और नायक को उस मार्ग से चलने से बरजती है, नायक उसका कहना मानकर कुछ दूर तो इस प्रकार सिमट कर चलता है कि उसको कँकड़ियाँ न गड़ें, पर नायिका का वह नाँक चढ़ा कर सीबी करना उसे ऐसा भा गया कि वह फिर जानबूझ कर उसके चिढ़ाने तथा उसकी वह मोहिनी चेष्टा देखने के निमित्त ऐसा करता है, और वह फिर उसी प्रकार नाँक चढ़ाकर सीबी करे।'

यहाँ भी 'सीबी' का व्यापार निश्चेष्ट है, पर नायक को उससे सुखानुभूति प्राप्त होती है। कुछ उदाहरण और लीजिए—

**( १ ) बिहसति सकुचति सी हिये कुच-आँचर बिच बाँह।**
**भींजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माँह॥**

**( २ ) बढ़त निकसि कुचकोर-रुचि कढ़त गौर भुज मूल।**
**मनु लुटि गो लोटनु चढ़त चोंटत ऊँचे फूल॥**

**( ३ ) अहे दहेंड़ी जिनि धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि।**
**नीकैं ह्वै छींकैं छुवै, ऐसैई रहि नारि॥**

पहले उदाहरण पर एक टिप्पणी देखिए—

'स्तन नारी का सर्वाधिक आकर्षक अंग है। स्नानोपरान्त भीना वस्त्र उसके शरीर में चिपक जाता हे। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार वह बाहों से स्तनों को ढँक लेती है। कामजन्य डर के अभाव में लज्जा की भावना उद्दीप्त नहीं होती। एकान्त स्थान में स्नान करती हुई स्त्री के लिए गोपन क्रिया बहुत आवश्यक नहीं है। यह काम जन्य संकोच दूसरे व्यक्ति के सामने ही उत्पन्न होता है, विशेष रूप से पुरुष के सामने। स्मरण रखने की बात है कि बिहारी की नायिका सरोवर से निकल रही है। इसके तट पर बिहारी जैसे रसिकों का जमघट लगा रहता होगा। अतः शालीन नायिका के लिए आवश्यक था कि वह अपनी बाहों से स्तनों को ढँक लेती। विद्यापति की सद्यःस्नाता नायिका के सामने कोई पुरुष या नारी नहीं है। अतः कवि को उसके नग्न सौन्दर्य के वर्णन में कोई शालीनता जन्य बाधा नहीं प्रतीत हुई।...यह

शुद्ध लज्जा अथवा शालीनता का उदाहरण है। इसे 'हाव' से सर्वदा भिन्न समझना चाहिए[1]।' इसीलिए इस तरह की भंगिमाओं को मैंने स्वाभाविक कहा है।

दूसरे उदाहरण में नायक ने नायिका को फूल चुनते समय देखा है। इस क्रिया में 'हाथ को ऊँचे करने तथा ग्रीवा को पीछे की ओर झुकाने में उसके कुच आगे को निकल आए, एवं अंचल के सरकने से भुजमूल तथा उदर कुछ उघर गए।' इस अवस्था में उसकी त्रिवली देखकर नायक का मन लुट गया।

तीसरे उदाहरण में छींके पर दहेंड़ी रखने का नायिका का व्यापार नायक को अत्यंत प्रिय लग रहा है। इसलिए वह कहता है कि तू दहेंड़ी छींके पर न रखो और न उतारो। छींके को अच्छी तरह से छू रखो। इस स्थिति में रहने से नायक को तनाव के कारण उसके वक्ष का इन्द्रियोत्तेजक उभार देखने का शुभ अवसर मिलता रहेगा। यह भंगिमा भी छींकें के छूने से अपने आप बन गई है, पर नायक को उसमें चक्षु-रंजन का एक मौका मिल जाता है।

उपर्युक्त भंगिमाओं में फाग के अवसर पर जो भंगिमा दिखाई गई है वह सर्वाधिक सुदर और संवेद्य है। वह अपेक्षाकृत अधिक गत्यात्मक है, इसीलिए श्रेष्ठ भी है। उसमें कवि ने जीवन के यथार्थ को एक ऐसे प्रसंग में चित्रित किया है कि वह बहुत ही स्वाभाविक तथा संवेदना पूर्ण बन गया है। शेष चित्रों में स्नान करके निकलती हुई नायिका अपनी शालीनता (मॉडेस्टी) के कारण पाठकों को प्रिय लगती है। फूल लोढ़ने का चित्र ऐंद्रियोत्तेजक (सेंसुअल) हो गया तो दहेंड़ी रखने का चित्र ग्राम्य।

**हाव**

पहले ही कहा जा चुका है कि संभोगेच्छा प्रकाशक सचेष्ट व्यापार 'हाव' कहे जाते हैं। प्रेमोद्दीपन के कार्य में इसकी महत्ता का विशेष आकलन किया जाता है। कुछ आचार्यों ने हाव के कई भेद बतलाए हैं, पर वे भ्रामक हैं। जैसा आचार्य रामचंद्रशुक्ल का मत है हाव को विभाव के अंतर्गत ही मानना अधिक संगत है। हाव एक प्रकार का उद्दीपन है जो प्रेमी के हृदयस्थ रतिभाव को उद्दीप्त करता है। संयोग शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में इसके लिए

१—'रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना', ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १८०

कोई स्थान नहीं है। मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर यह 'प्ले इंस्टिक्ट' की कोटि में रखा जायगा। प्रेम का यह क्रीड़ा-परक रूप सामंतीय जीवन की विलासिता के अनुरूप ही था। इसलिए बिहारी ने इस तरह के वर्णनों में खूब रुचि ली है।

देखिए—

(१) त्रिबली, नाभि दिखाइ कर सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली, अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि॥

(२) देख्यो अनदेख्यो कियो अँग अँग सबै दिखाय।
पैठति सी तन में सकुचि बैठी चितहिं लजाय॥

(३) ऐंचति सी चितवनि चितै भई ओट अलसाइ।
फिरि उझकनि कौं मृगनयनि दृगनि लगनिया लाइ॥

(४) बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं, भौंहन हँसै, दैन कहैं, नटि जाइ॥

(५) भौंहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु इँची आगैं आवति जाति॥

उपर्युक्त सभी उद्धरणों के व्यापार संभोगेच्छा सूचक है। चित्रों की सफाई पर भी मुझे यहाँ कुछ नहीं कहना है। पहले उदाहरण के व्यापार की स्पष्टता—त्रिबली और नाभि का प्रदर्शन—बहुत आकर्षक नही कही जा सकतीं। (आजकल तो त्रिबली और नाभि का प्रदर्शन फारवर्ड होने की निशानी मानी जाती है। यदि यह सांस्कृतिक सुरुचि का द्योतक है तो बिहारी की नायिका को दोषी ठहराना आलोचक का पिछड़ापन माना जायगा, क्यों?) जो लोग भारतीय परंपरा का सामान्य ज्ञान रखते हैं वे उपर्युक्त चित्रण की सुरुचिपूर्णता में संदेह प्रकट करेंगे। उदाहरण सं० २ की नायिका के व्यापार अधिक जटिल, बौद्धिक तथा सांकेतिक हैं। तीसरे दोहे की सांकेतिकता थोड़ी और सूक्ष्म है। चौथे की प्रेमक्रीड़ा में नाटकीय तत्त्व की प्रचुरता के साथ प्रेम की गहराई भी परिलक्षित होती है। पाँचवें में क्रीडात्मकता अधिक है पर परस्पर विरोधी क्रियाओं द्वारा इस चित्र को भी थोड़ा गूढ़ बना दिया गया है। पहले दोहे में जो चित्र उरेहा गया है उसकी अपेक्षा अन्य चित्र अधिक प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं क्योंकि उनके बोध के लिये अपेक्षाकृत व्यापक बौद्धिक मानसिक संघटन की आवश्यकता है। जिस चित्र के लिए, उसके बोध के लिए, जितने

व्यापक मानसिक संघटन की जरूरत होगी वह उतना ही प्रभविष्णु और संवेदनात्मक होगा।

प्रेम क्रीड़ा के अन्य रूपों में दाम्पत्य क्रीड़ा, चोर मिहीचनी का खेल, पारस्परिक आलिंगन चुम्बन, आँख आँख का खिलवाड़, घूँघट की ओट की
(1) चोट आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इनमें दांपतिक क्रीड़ा के चित्र बहुत ही मनोरम और आकर्षक बन पड़े हैं--

**( १ ) हँसि ओठनु बिच कर उचै, कियैं निचौंहैं नैन।**
**खरैं अरैं प्रिय कै प्रिया लगी बिरी मुख दैन॥**

**( २ ) नाक मोरि नाही ककै नारि निहोरे लेय।**
**छुवत ओंठ प्रिय आँगुरिन बिरी बदन तिय देय॥**

पहले दोहे में विश्रब्ध नवोढ़ा नायिका की चेष्टा वर्णित है। अब उसे नायक का इतना अधिक विश्वास हो गया है कि वह उसे पान खिलाने के लिए पास जाने लगी है। ओठों के बीच हँस कर, हाथ ऊँचा और आँख नीची करके प्रिय के मुख में पान देती है। मध्यवर्गीय शालीनता से अपरिचित व्यक्ति इसके पूर्ण सौष्ठव को स्वायत्त नहीं कर सकता। संकोच, लज्जा और विश्वास का संगम चित्र को आत्यंतिक ऐंद्रिय मनोरमता प्रदान करता है।

दूसरे चित्र में नायक नायिका को पान खिलाना चाहता है। वह नाक सिकोड़ती हुई कहती है नहीं नहीं मैं नहीं खाऊँगी। नायक बेचारा बार बार आग्रह करता है। नायिका उसका पान मुँह में लेती हुई ऐसा भाव प्रकट करती है मानो उस पर बड़ी कृपा कर रही है। इसी समय नायक उसके कोमल अधरोष्ठों को छू देता है।

इन दोनों चित्रों के सारे व्यापार स्वाभाविक हैं, जीवन से गृहीत हैं इसलिए इनका सौंदर्य भी मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही बन पड़ा है।

(2) प्रेम क्रीड़ा के लिए चोर मिहीचनी खेल की भी व्यवस्था की गई है। इस खेल का अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। यह एक बहाना मात्र है जिसमें गाढ़ालिंगन की खुली छूट मिल जाती है--

**दोऊ चोर मिहीचनी, खेल न खेलि अघात।**
**दुरत हिये लपटाय कै, छुवत हिये लपटाय॥**

अटा पर चढ़ी हुई नायिका की क्रीड़ा का एक शोभन रूप देखिए--

**छिनकु चलति, ठठुकति छिनकु, भुज प्रीतम गल डारि।**
**चढ़ी अटा देखति छटा, बिज्जु छटा सी नारि॥**

बिजली की ज्योति की तरह लावण्यवती नायिका घिरे हुए बादलों की शोभा निहार रही है। प्रियतम के गले में बाँह डाल कर क्षण भर कभी चलती है और क्षण भर कभी ठिठक जाती है। 'भुज प्रीतम गल डारि' की व्यंजना घटा के प्रसंग में कितनी गूढ़ और मनोवैज्ञानिक बन पड़ी है।

क्रीड़ा में चतुराई का बहुत बड़ा योग होता है, उसका भी एक उदाहरण देखिए—

**लरिका लैबे कैं मिसनु लंगरु मो ढिग आइ।**
**गयौ अचानक आँगुरी, छाती छैल छुवाइ॥**

अब चुंबन का एक दृश्य देखिए—

**अँगुरिनु उचि, भरु भीति दै उलमि चितै चख लोल।**
**रुचि सौं दुहूँ दुहून के चूमे चारु कपोल॥**

ऐसे सुयोग नगर निवासी नायक-नायिका को ही सुलभ हो सकते हैं।

बिहारी सतसई में प्रेम-क्रीड़ा का बहुत बड़ा भार आँखों के मत्थे पड़ा है। प्रेम व्यापार में है भी आँखों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योग। ये आँखें भी साधारण आँखें नहीं है। वे 'रस सिंगार मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन' हैं। दूसरे शब्दों में हाव, भाव, कटाक्ष आदि में पूर्ण दक्ष हैं। 'प्रेम को मादक बनाने के लिये नेत्रों का बड़ा होना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उनका अपांग वीक्षण' इसीलिए एक दोहे में सखी नायिका की प्रशंसा करती हुई कहती है—

**अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।**
**वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥**

इस तरह की आंखों के कुछ व्यापार द्रष्टव्य हैं—

(१) **खरी भीरहू भेदि कै कितहू ह्वै उत जाय।**
**फिरै डीठि जुरि डीठि सों सबकी डीठि बचाय॥**

(२) **कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।**
**भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात॥**

(३) **जुरे दुहुनि के दृग झमकि रुके न झीने चीर।**
**हलकी फौज हरौल ज्यौं परत गोल पर भीर॥**

भीड़-भभ्भड़ में लोगों की आँखे बचाकर अपने प्रिय से आँखों आँख बात कर लेना, मन की रीझ खीझ को संकेत पूर्वक व्यक्त कर देना, पारदर्शी घूंघट के उस पार जाकर प्रिय की आँखों से मिल लेना—आँख के इन व्यापारों से सभी परिचित हैं ।

**सुरति मूलक मुद्राएँ**

सुरति मूलक मुद्राओं के चित्र भी सतसई में ढेर के ढेर मिल जायँगे। क्रीड़ाओ की अंतिम परिणति भी तो यही है। और यही तो है अवकाश भोगी सामंतों के जीवन का चरम लक्ष्य ! सामंतीय नायक की एक उक्ति देखिए—और दूसरे की उक्ति यह हो भी नहीं सकती—

**चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि ।**
**ए जिहि रति, सो रति मुकति, और मुकति अति हानि ।।**

अर्थात् जिस रति में चमक, तमक, लपट, झपट आदि हों वही रति मुक्ति के समान परमानंददायिनी है। दूसरी मुक्ति तो अनिष्टकारिणी है।

कुछ मुद्राएँ देखिए—

**( १ ) सकुचि सरकि पिय निकट तें मुलकि कछुक तन तोरि ।**
**कर आँचर की ओट करि जमुहानी मुख मोरि ।।**

**( २ ) समरस समर सकोच बस बिबस न ठिक ठहराइ ।**
**फिरि फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकति आइ ।।**

इन पर टिप्पणियाँ व्यर्थ हैं।

**सात्विक अनुभाव**

संयोगकालीन अवस्था में आंतरिक आनंद के फल स्वरूप जो स्वेद, कंप, रोमांच, वैवर्ण्य आदि दिखाई पड़ते है, उनकी गणना सात्विक अनुभावों में की जाती है। 'आत्मा में अंतर्भूत रस को प्रकाशित करनेवाला अंत:करण का धर्म विशेष 'सत्व' कहलाता है। इसी सत्वगुण से उत्पन्न शरीर के स्वाभाविक अंग विकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं।' यह अंत:करण का धर्म विशेष सभी रसों में दिखाई पड़ता है पर प्रत्येक के अपने अपने कारण होते है।

इन सात्विक अनुभावों का प्रादुर्भाव प्रायः प्रिय के दर्शन, श्रवण और स्पर्श से होता है। इन सभी अवस्थाओं में स्थानुगत कुछ ऐसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं कि उनका प्रकाशन स्वेद, कंप आदि के द्वारा देखा जाता है।

मानस द्वारा दर्शन, श्रवण आदि से जिन प्रभावों को प्राप्त किया जाता है वे हमारे शारीरिक संघटन को अनेक ढंग से प्रभावित करते हैं। परिणामतः उनकी प्रतिक्रियाएँ अनेक रूपों में देखी जाती हैं। प्रेम के संबंध में स्पर्श का अधिक प्रभाव देखा जाता है। 'स्पर्शत्वगिन्द्रिय का गुण हैं। त्वचा स्नायुतंतुओं, धमनियों और आँतों आदि की रक्षा ही नहीं करती, बल्कि बाह्य संसार से हमारा संपर्क भी स्थापित करती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे सर्वाधिक प्राचीन और मूलभूत ज्ञानेंद्रिय कहा है। यह बाह्यानुभूतियों का संदेश तुरत ही मस्तिष्क तक पहुंचाती है। यौन आवेगों की स्थिति स्पर्श ज्ञान पर इतनी अधिक निर्भर है कि प्रेम संबंधी संवेगों के संदर्भ में इसे प्रमुख स्थान दिया जाता है। स्पर्श का विद्युत प्रवाह सारे रोमकूपों में विचित्र सिहरन भर देता है।'[1]

वेणी गूँथने के प्रसंग में स्पर्श जन्य प्रभाव का एक दृश्य देखिए—

**रहौ गुही बेनी, लखे गुहिबे के त्यौनार।**
**लागे नीर चुचान, जे नीठि सुकाए बार॥**

नायक नायिका की चोटी गूँथता है। स्पर्श से दोनों को स्वेद हो आया है और नायिका की वेणी के बाल भीग गए है। अपना सात्विक छिपाने के निमित्त नायिका कहती है—रहने दो, गूँथ चुके वेणी, देख लिया तुम्हारा ढंग। इतनी कठिनाई से मैंने बाल सुखा रखे थे, वे फिर गीले हो गए। इसमें प्रेम की जो व्यंजना की गई है वह श्लाघ्य है। पर सात्विक की किंचित् अस्वाभाविकता के कारण यह उतना प्रभावोत्पादक नही बन पड़ा है।

एक साथ ही कंप, स्वेद, रोमांच और अश्रु सात्विक अनुभवों को एक अत्यंत स्वाभाविक संदर्भ में देखिए—

**खेलन चोर मिहीचनि आजु, गई हुती पाछिले द्यौस की नाई।**
**आली कहा कहौं एक भई 'मतिराम' नई यह बात तहाई॥**
**एक ही भौन दुरे इस संग ही अंग सौं अंग छुवायो कन्हाई।**
**कंप छुट्यो, घन स्वेद बढ्यो, तन रोम उठ्यो, अँखियाँ भरि आईं॥**

**—मतिराम**

मतिराम के सवैये में बहुत से सात्विकों को एक स्थान पर एकत्र कर दिया गया है, इसलिए इसका काव्य-सौंदर्य श्रेष्ठ नहीं है। इसकी श्रेष्ठता नायिका की मनोदशा को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण कराने में है, दो मनः-

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना, ना० प्र० सभा, काशी पृ० १८४

स्थितियों की तुलना में है, उनके अंतरसंबंधों के स्थापन में है। पिछले ही दिनों की भाँति नायिका चोर मिहीचनी खेलने के लिए आज भी गई थी। लेकिन आज के खेल में उसे एक अभूतपूर्व अनुभूति हुई। इस अनुभूति के कारणों को समझने में वह असमर्थ है, क्योंकि पिछले दिनों तो वह बराबर चोर मिहीचनी खेला करती थी; पर इस तरह का कुछ भी नहीं हुआ। आज क्या बात हो गई ? उसके साथ एक ही घर में नायक भी छिप गया और जान बूझकर अपना शरीर उसके शरीर से छुला दिया। शरीर का स्पर्श करते ही उसे रोमांच हो आया, शरीर पसीने पसीने हो गया, आँखों में आँसू की बूँदें छा गई। इस तरह का स्पर्श तो बहुत होता रहा है, पर आज ही क्यों ये सात्विक उभर आए ? ये सात्विक उस अवस्था विशेष के सूचक हैं जिसमें प्रेम विकार अनजाने ही उत्पन्न होने लगते हैं। नायिका है भी तो अज्ञात यौवना। किंतु बिहारी के दोहे और मतिराम की सवैया का तुलनात्मक विवेचन नही किया जा सकता। मतिराम ने उक्त सवैया अज्ञात यौवना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, वह अपने आप में नायिका के अज्ञान और भोलेपन को बहुत ही स्वाभाविक ढंग से व्यक्त करता है। यह भोलापन पाठकों को प्रसन्न कर देता है, उनके अंतर्मन को गुदगुदा देता है, उनकी ऐंद्रिय चेतना को तीव्र बना देता है। बिहारी का दोहा दूसरे परिप्रेक्ष्य की सृष्टि करता है, उसमें व्यापकता नहीं है वक्रता है, जो प्रेमाधिक्य की व्यंजना में सक्षम है। एक दूसरे दोहे में बिहारी ने स्पर्शजन्य सात्विक की जो सृष्टि की है वह अपेक्षाकृत गहरी संवेदना उत्पन्न कर सकी है—

**स्वेद सलिल रोमांच कुस, गहि दुलही अरु नाथ।**
**दियौ हियौ संग हाथ के हथलेयै ही हाथ॥**

पाणिग्रहण संस्कार के अवसर पर दुलहिन दूल्हे ने स्वेदरूपी जल और रोमांच रूपी कुश ग्रहण करके हाथ के साथ ही अपना अपना हृदय भी एक दूसरे को सौंप दिया। पाणिग्रहण की लौकिक रीति ( जल और कुश द्वारा संकल्प होने की क्रिया ) के पूर्व ही दोनों मानसिक संकल्प से एक दूसरे के हो गए। मानसिक चेतना और उसकी शारीरिक प्रतिक्रिया का कितना सूक्ष्म चित्रण है। इसमें व्याप्ति तो नहीं है पर संवेदना की गहराई जरूर है।

अब दर्शनजन्य सात्विक का उदय देखिए—

**डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।**
**कंपि किसोरी दरसि कै, खरैं लजाने लाल॥**

उँगुली पर गोबर्धन धारण किए हुए श्रीकृष्ण ने ज्यों ही किशोरी राधिका को देखा त्यों ही उन्हें कंप सात्विक हो आया। इस कमबख्त सात्विक ने धोखे का काम किया—बड़े ही असमय में दिखाई पड़ा। हाथ के हिलते ही पहाड़ भी हिला और सारा ब्रज बिकल हो उठा। श्रीकृष्ण लज्जा से लाल हो गए।

श्रवणजन्य सात्विक का उदाहरण शेष रह गया, उसे भी देखिए—

**आयौ मीतु बिदेस तैं काहू कह्यौ पुकारि।**
**सुनि हुलसीं बिहसीं हँसी दोऊ दुहुनु निहारि॥**

इतना सुनना था कि मित्र विदेश से आ गया है दोनों प्रेमिकाएँ प्रफुल्लित हुईं, बिहँस पड़ीं, फिर एक दूसरे को देखकर हँसने लगी। प्रिय के प्रति जो मानसिक लगाव है उससे उनका खिल जाना सात्विक ही है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से इसमें कुछ खामी दिखाई पड़ सकती है पर प्रफुल्लता भी तो अंतःकरण के धर्म से ही संबद्ध है।

बिहारी ने कुछ ऐसे संदर्भों की भी सृष्टि की है जिसमें सात्विकों का प्रादुर्भाव न तो दर्शन से होता है न श्रवण से और न स्पर्श से। केवल सामीप्य बोध की भावना ही नायिका में सात्विक अनुभाव उत्पन्न करने में समर्थ है। यह विशिष्ट संदर्भ सात्विकों को जो परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है वह काव्य को सहज ही औदात्यपूर्ण बना देता है—

**मुख उघारि पिउ लखि रहत रह्यौ न गौं मिस-सैन।**
**फरके ओठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन॥**

इस दोहे में उस नायिका का चित्र अंकित किया गया है जो सोने का बहाना करके, मुह ढंककर, आँखे बंद करके सोई हुई हैं। नायक ने वास्तविकता जानने के लिए उसका मुँह उघार कर देखा। अब नायिका से रहा नहीं गया, उसके होंठ फड़क उठे, रोएँ भरभरा गए, आँखें खुल गईं और प्रियतम की आँखों से जा मिलीं।

नायिका ने नायक को देखा नहीं है। संभवतः मुँह उघार कर देखते समय नायक के हाथों का स्पर्श भी नहीं हो पाया है। पर मन ही मन वह उसके आत्यंतिक सामीप्य का अनुभव कर रही है। केवल इस मनोभाव ने उसके संवेगों को इस तरह आंदोलित कर दिया कि उसके शरीर पर उसके प्रतीक रूप में अनुभाव अंकित हो उठे।

इस प्रसंग में 'देव' का एक सवैया उद्धृत किए बिना यह प्रकरण कुछ अधूरा सा लगता है—

**गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाये।**
**सील सयान सखीन सिखायो, बड़े सुख सासुरे हू के सुनाये।**
**बोलियो बोल, सदा हँसि कोमल, जे मन भावन के मन भाये।**
**यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आये॥**

गौना जाने वाली दुलहिन को सखियों ने—सयानी सखियों ने—बहुत कुछ सीख दी; कहा कि सखी तुम हँस करके कोमल वाणी से बोलना जो प्रियतम के मन को भाने वाला हो। इतना सुनना था कि मन का अनुराग रोमांच के रूप में फूट पड़ा। 'अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ है, अभी स्थिति सर्वथा मानसिक धरातल पर है। पर मन के साथ शरीर का ऐसा सहज संबंध है कि दोनों में एक साथ चेतना उत्पन्न हो जाती हैं।' वास्तव में यह कल्पनाजन्य अनुभाव का एक रूप है। प्रियतम का काल्पनिक सामीप्य रोमांच उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ है। कहना न होगा कि देव का यह अनुभाव चित्र काफी गूढ़ और संवेगात्मक है। पर बिहारी के उपर्युक्त दोहे मे कई अनुभाव जो एक दूसरे से पूर्णतः संबद्ध हैं वे अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय और संवेद्य हैं।

कल्पनाजन्य अनुभाव की तरह स्मृतिजन्य अनुभाव भी होता है। स्मृतियाँ कई तरह से जागृत होती हैं। काव्य में प्रायः देखा जाता है कि प्रिय से संबद्ध कोई वस्तु पाकर प्रेमी पुलकित हो उठता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं प्रिय मिल गया हो। 'स्वयं वस्तु कोई प्रेमपरक चेतना उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती। उस वस्तु पर प्रिया (या प्रेमी) अपने प्रिय की भावना का प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) कर लेती है।'[१]

एक अंतरंग सखी ने नायिका को बहिरंग सखियों के बीच ठाकुर जी का प्रसाद कह कर एक माला दी। नायक की माला पहनते ही नायिका को रोमांच हो आया। उसे देखकर परिहास करती हुई बहिरंग सखी कहती है—

**मैं यह तोही में लखी, भगति अपूरब बाल।**
**लहि प्रसाद माला जु भौ, तन कदंब की माल॥**

---

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १८७–८८

इस स्मृति जन्य अनुभाव को कहीं कहीं बिहारी ने और भी सूक्ष्म स्तर पर देखा और परखा है—

**ऊँचै चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेतु ।**
**झलकत दृग, मुलकित बदन, तनु पुलकति किहि हेतु ॥**

यद्यपि इस दोहे के 'अवतरण' में रत्नाकर जी ने बतलाया है कि नायिका अटारी पर चढ़े हुए कबूतर उड़ाने वाले नायक को देखकर पुलकित होती है। पर नायक को देखने का अनुमान नहीं भी किया जा सकता है। नायिका केवल अपने प्रिय के कबूतर को देखकर ही पुलकायमान हो सकती है। मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता की दृष्टि से यह कल्पना अधिक रमणीय प्रतीत होती है।

**हास परिहास, बन-विहार और मदपान**

प्रेम या शृंगार के प्रसंग में हास-परिहास, बन-विहार और मदपान का वर्णन प्रायः होता आया है। हास परिहास में कभी तो हृदय की उन्मुक्तता प्रेमी युग्म को समीप ले आती है और कभी हृदय की अन्य प्रकार से अव्यक्त भावनाएँ वक्रतापूर्ण ढंग से व्यक्त हो उठती है। बिहारी से इस तरह के हास परिहास की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। बन बिहार के उन्मुक्त वातावरण में प्रेम को जो साद्रता मिलती है, उसकी कमी भी बिहारी में मिलेंगी। इन दोनों की अपेक्षा मदपान के वर्णन अधिक हैं। फिर भी हास परिहास और बन बिहार की बानगी मिलही जायगी—

**लाज गहो बे काज कत, घेरि रहे घर जाँहि ।**
**गोरस चाहत फिरत हौ, गो रस चाहत नाँहि ॥**

परिहास का यह एक अच्छा उदाहरण है। नायिका कहती है—कुछ तो शर्म करो, बेकार में क्यों घेर रहे हो, घर जाने दो। मैं तुम्हें अच्छी तरह जानती हूँ। तुम इंद्रिय रस खोजते फिरते हो, गोरस नहीं। इस परिहास में नायिका ने अपना गूढ मंतव्य भी प्रकट कर दिया।

अब परिहास का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

**ह्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ ।**
**बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि को, बलि, तुम्हैं पत्याइ ॥**

नायका नायिका के रूप गुण पर रीझ गया है। वह नायिका की सखी से प्रार्थना करता है कि उसे दिखा दे। सखी नायक का परिहास करती हुई

कहती है कि तुम्हारी रीति बड़ी बेढ़ब हैं। तुमने उँगली छुआ नहीं कि पहुँचा पकड़े। बलि वामन का वृत्तांत सुन करके भला तुम्हारा विश्वास कौन करेगा ?

**चलित ललित श्रम स्वेद कन कलित अरुन मुख लैन।**
**बन बिहार थाकी तरुनि खरे थकाये नैन॥**

यह बन बिहार का अति सामान्य उदाहरण है। हाँ मदपान में बिहारी का मन अपेक्षाकृत अधिक रमा है--

**(१) हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।**
**बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति॥**

**(२) निपट लजीली नवल तिय बहकि बारुनी सेइ।**
**त्यौं त्यौं अति मीठी लगति, ज्यौं ज्यौं ढीठ्यो देइ॥**

**(३) खलित बचन अधखुलित दृग ललित स्वेद कन जोति।**
**अरुन बदन छबि मद छकी खरी छबीली होति॥**

मद का मुख्य प्रयोजन है रति क्रीड़ा को मादकतापूर्ण बनाना। मद के कारण ललक ललक कर लपटना, लजीली होने पर भी लज्जा को छोड़ रति क्रीड़ा में ढीठ होना, शोभा में मदजन्य निखार का आना आदि आदि ऐसी स्थितियाँ हैं जो तत्कालीन रसिकों की आकांक्षाओं के अनुकूल पड़ती थीं। इसलिए सतसई में इनका संनिवेश भी आवश्यक हो गया।

सामंतीय वातावरण का प्रभाव बिहारी के वियोग वर्णन पर इस तरह पड़ा है कि मान और खंडितादि के चित्रों की सतसई में बहुलता हो गई है।

**वियोग**

वियोग के चार प्रकारों--पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण में खंडितादि के वर्णन मान के ही अंतर्गत आएँगे।[1] पूर्वानुराग को कुछ आचार्यों ने अभिलाष मात्र मानकर गंभीर वियोग के अनुपयुक्त समझा है। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अभिलाष मात्र ही नहीं ठहर सकता। थोड़ी देर के लिए इसे मान भी लिया जा सकता है किंतु कुछ समय के अनंतर इसमें वियोगात्मक तीव्रता का आविर्भाव स्वाभाविक हो जाता है। पहले हम मान का ही प्रसंग लेंगे।

---

१—विस्तार के लिए देखिए, रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० १९९-२००

आचार्यों के मतानुसार मान के दो भेद हैं—प्रणयमान और ईर्ष्यामान। प्रणयमान निर्हेतुक माना गया है, यह स्मित आदि से शमित हो जाता है।

**मान**

यह मुख्यतः क्रीड़ात्मक है, इसे मान नहीं, मान का नाटक समझना चाहिए। अतः वियोग की किसी भी वास्तविक स्थिति का आविर्भाव इससें संभव ही नहीं है। ईर्ष्यामान में मूलतः ईर्ष्या रहती है पर इसमें खीझ, क्लेश, अभिमान, क्रोध, घृणा, उदासीनता, अवसाद आदि अनेक प्रकार की मानसिक अवस्थाओं का समावेश हो सकता है।

प्रणयमान का एक मनोरम खेल देखिए—

**सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिनु मन नीठि।**
**कहा करौं, ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं डीठि॥**

सखी ने किसी प्रकार नायिका को मान करना सिखाया है पर अपनी असमर्थता का इजहार करती हुई नायिका कहती है कि हे सखी मैं किसी तरह भौहों को टेढ़ी, बातों को रूक्ष और मन को कठोर बना लेती हूँ, किंतु हाय मैं क्या करूँ, उनको देखकर आँखों में हँसी आ जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि इस तरह के मान को वियोग के अंतर्गत रखना परंपरा का अनुरोध ही समझना चाहिए। यह एक तरह की प्रेमपरक क्रीड़ा है जो प्रेम को उद्दीप्त करती है। अतः इसे उद्दीपन के भीतर रखना अधिक संगत लगता है।

ईर्ष्यामान के वर्णन में बिहारी की चित्तवृत्ति अधिक रमी है। परंतु इसके भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार की मानसिक अवस्थाओं को न दिखलाकर प्रायः नायिका के आक्रोश तक ही कवि सीमित रहा है। खंडिता के प्रसंग में तो बिहारी की दृष्टि बाह्य रति-चिह्नों पर विशेष रूप से टिकी है। 'वे पलकों में पीक, अधरों में अंजन, भाल में महावर, अंगों में किंजल्क, छाती में नखक्षत, अधरों पर दंतक्षत, बाहों पर चोटी का चिह्न, दृगों में ललाई और आलस्य, उँगलियों में महावर आदि के वर्णन में इतने उलझे हुए दिखाई देते हैं कि खंडिता के व्यंग्य को रससिक्त उतना नहीं कर सकते जितना चमत्कारपूर्ण। खंडिता नायिका के व्यंग्य क्षोभ के इन बाह्य चिह्नों का स्मरण इस काल के सभी कवियों ने प्रेमपूर्वक किया है, किंतु इसका जितना विस्तार बिहारी ने

किया है उतना और लोगों ने नहीं। मतिराम, देव, पद्माकर आदि कवि बीच बीच में खंडिता की मानसिक स्थिति भी व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं।[1] निम्नलिखित दोहा इस संबंध में प्रतिनिधि उदाहरण माना जा सकता है--

**पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावर भाल।**
**आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल॥**

ये चिह्न ही पति के अपराध के सूचक हैं और पति का अपराध ही ईर्ष्या-मान का कारण है। बिहारी ने स्वयं कहा है--

**पति रितु औगुन गुन बढ़त मान, माह कौ सीतु।**
**जातु कठिन ह्वै अति मृदौ रवनी-मनु, नवनीतु॥**

अर्थात् पति और ऋतु के अवगुण ( अपराध ) तथा गुण ( स्वभाव ) से मान और माघ महीने की शीत वृद्धि होती है। उसके फलस्वरूप रमणी का मन तथा नवनीत जो प्रकृत्या कोमल हैं निष्ठुर तथा कठोर हो जाते है।

पूर्वानुराग के वर्णन में भी बिहारी मे न आवेगात्मक तीव्रता दिखाई पड़ती है और न संवेदनात्मक गहराई। यह पूर्वानुराग प्रायः दो रूपों में चित्रित हुआ है--इतिवृत्तात्मक और चित्त विकलन। पहले रूप का जहाँ तक संबंध है नायिका की किसी न किसी दशा का विवरण उपस्थित किया गया है--

**पूर्वानुराग**

**लाल, तुम्हारे रूप की, कहौ रीति यह कौन।**
**जासौं लागत पलकु दृग लागत पलक पलौ न॥**

इसमें अनिद्रा-दशा का जो कथन किया गया है वह किसी प्रकार काव्योचित नहीं बन पड़ा है।

चित्त की विकलता के फलस्वरूप उसकी जिस अस्थिरता का उल्लेख किया गया है वह अपेक्षाकृत ऐंद्रिय और संवेद्य अवश्य है--

**इत तैं उत, उत तैं इतै, छिनु न कहूँ ठहराति।**
**जक न परति, चकरी भई, फिरि आवति फिर जाति॥**

---

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना, ना० प्र० सभा, काशी, पृष्ठ २०२

नायिका से वियुक्त होकर नायक के अन्य देश में चले जाने को प्रवास कहा गया है। इसमें मलिनता, संताप, पांडुता, दौर्बल्य, अरुचि, अधीरता, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्छा आदि काम-दशाएँ देखी जाती हैं। गंभीर वियोग इस स्थिति में अधिक स्वाभाविक है। किसी के द्वारा संदेश भेजना और चित्र-लेखन भी प्रवास-जन्य वियोग की रूढ़ियाँ हैं। बिहारी में इन समस्त रूढ़ियों को खोजा जा सकता है।

**प्रवास**

उपर्युक्त काम-दशाओं में प्रथम चार का संबंध शरीर से है तो शेष छः का मन से। प्रथम चार दशाओं का मूल प्रेरक भी मन ही है, उसकी प्रतिक्रिया शरीर पर उन रूपों में होती है। नीचे कुछ दशाओं का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है--

**संताप**

**( १ ) आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।**
**साहस कैकै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति॥**
**( २ ) औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरति बिललात।**
**बिचही सूखि गुलाब गो छींटौ छुई न गात॥**
**( ३ ) जिहि निदाघ दुपहर रहै भई माघ की राति।**
**तिहिं उसीर की रावटी खरी आवती जाति॥**

जायसी ग्रंथावली की भूमिका में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी के वियोग पक्ष का विवेचन करते हुए लिखा है--'जायसी का विरह वर्णन कहीं कहीं अत्युक्ति पूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुंच पाया है, उसमें गांभीर्य बना हुआ है। इनकी उक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़तीं, हृदय की तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होती हैं। उनके अंतर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते हैं, बाहर बाहर से ताप की मात्रा नापने वाले मानदंड नहीं। जाड़े के दिनों में भी पड़ोसियों तक पहुंच उन्हें बेचैन करने वाले, बोतल का गुलाब जल सुखा डालने वाले ताप से कम ताप जायसी का नहीं है पर उन्होंने उसके वेदनात्मक अंश पर जितनी दृष्टि रखी है उतनी उसकी बाहरी नाप जोखपर नहीं जो प्रायः ऊहात्मक हुआ करती है।'[१] इस उद्धरण में

१—आचार्य, रामचंद्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, चतुर्थ संस्करण, ना० प्र० सभा, काशी, भूमिका पृ० ३६।

जितने निषेधात्मक वाक्य हैं वे सब बिहारी को दृष्टि में रखकर लिखे गए हैं—उनके संताप-वर्णन को लक्ष्य करके। तात्पर्य यह है कि बिहारी का संताप-वर्णन मात्रा मूलक है, वह नाप-जोख की पद्धति पर आधारित और ऊहात्मक है।

**दौर्बल्य**

**( १ ) करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।**
**दीनै हूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु॥**

**( २ ) इत आवति चलि, जाति उत चली, छसातक हाथ।**
**चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ॥**

**( ३ ) नैक न जानी परति है परयौ बिरह तनु छामु।**
**उठति दियैं लौं नाँदि, हरि, लियैं तिहारौ नामु॥**

जिस तरह संताप वर्णन में कवि की दृष्टि ताप की मात्रा पर रही है उसी तरह इस प्रसंग में भी उसकी दृष्टि शारीरिक दुर्बलता और आत्यंतिक क्षीणता पर रही है। कार्श्य का यह रूप भी काया की लघुता पर आधृत है, हृदय गत संवेदना पर नहीं।

अस्थिरता का एक उदाहरण पूर्वानुराग के प्रसंग में दिया जा चुका है।

**तन्मयता आदि** तन्मयता, उन्माद, और मरण के एक एक उदाहरण देखिए—

**पिय कै ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।**
**आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि॥**
**( तन्मयता )**

**बिरह जरी लखि जीगननु कह्यौ न डहि कै बार।**
**अरी आहु भजि भीतरी बरसत आज अँगार॥**
**( उन्माद )**

**कहा कहौं वाकी दसा हरि प्रानन के ईस।**
**बिरह ज्वाल जरिबो लखैं मरिबौ भयो असीस॥**
**( मरण )**

जो वस्तुएँ संयोग में सुखानुभूति जगाती रहती है वे ही वियोग में दुःखानुभूति जगाने का कार्य करती हैं। काव्य में इनका वर्णन कवि परंपरा से करते आए है। बिहारी की उक्तियाँ भी परंपरा के ही मेल में हैं--

**विरह के उद्दीपन**

(१) **औरैं भाँति भएब ए चौसर, चंदन चंद।**
**पति बिनु अति पारत बिपति, मारुत मारत मंद॥**

(२) **हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाउँ।**
**कहा जानि ए कहत हैं, ससिहि सीतकर नाउँ॥**

**विरह-वर्णन के कुछ काव्योचित स्थल**

समस्त परंपराओं के पालन के बावजूद भी बिहारी के विरह-वर्णन में कुछ ऐसे स्थल जरूर है जो उनकी श्रेष्ठ काव्य प्रतिभा के द्योतक है। (विरह वर्णन ही क्यों संयोग और सौंदर्य वर्णन के सिलसिले में भी उसे देखा जा सकता हे।) इस तरह के दोहों के कुछ उदाहरण देखिए--

(१) **अजौं न आए सहज रँग, बिरह दूबरे गात।**
**अब ही कहाँ चलायति ललन चलन की बात॥**

(२) **जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार।**
**तौ ग्वैड़ो घर कौ भयौ पैंड़ो कोस हजार॥**

(३) **जहाँ जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ स्यामु सुभग सिरमौरु।**
**बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु दृगनु अजौं वह ठौरु॥**

(४) **स्याम-सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा-तीरु।**
**अँसवनु करति तरौंस कौ खिनकु खरौंहौं नीरु॥**

(५) **कर के मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाइ।**
**सदा समीपिनि सखिनु हूँ नीठि पिछानी जाइ॥**

इन दोहों में वे कौन सी ऐसी विशेषताएँ हैं जो इन्हें श्रेष्ठ काव्य में परिगणित करती हैं? यह प्रश्न स्वयं इन दोहों के लिए उतना महत्व नहीं रखता जितना मूल्यांकन की समस्या के लिए रखता है। यह कहा जा सकता है कि ये उक्तियाँ ऊहात्मक नहीं है, बाहरी नाप जोख से इनका संबंध नहीं है, शारीरिक कार्श्य का तनुतापरक वर्णन इनमें नहीं हैं। पर ये निषेधात्मक कथन तो अपने आप में काव्य के गुण नही हैं। कुछ लोग

निश्चयात्मक ( पाजिटिव ) ढंग से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि कथन की स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के कारण इन दोहों को श्रेष्ठ माना जा सकता है। किंतु स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता जैसे गोल शब्द इनके काव्यात्मक सौंदर्य के मापक नहीं हो सकते।

वास्तव में इन दोहों की श्रेष्ठता यथार्थ की काव्यात्मक पकड़ में निहित है। यथार्थ की जो पकड़ संताप-दौर्बल्य-प्रदर्शक दोहों में दिखाई पड़ती है वह अस्वाभाविक और मात्र भौतिक ( फिजिकल ) है। इसलिए उनकी भाव व्यंजनाएँ बाह्यतापरक हैं जो संवेद्य नहीं हो पातीं। मानसिक यथार्थ का संबंध हमारी संवेदनाओं और सुख दुःखात्मक अनुभूतियों से होता है। भौतिक यथार्थ का अपने आप में महत्त्व है बशर्ते वह मानसिक यथार्थ को उसके वास्तविक संबंधों में व्यक्त कर सके। 'औंधाई सीसी' वाले दोहे को लीजिए। 'शीशी का औंधाना' भौतिक यथार्थ है पर ताप से उसका जो संबंध स्थापित किया गया है वह बड़ा ही लचर और मूल्यहीन हो गया है—दूसरे शब्दों में वह संबंध अवास्तविक और मिथ्या है। वैयक्तिक दृष्टि से उसका चामत्कारिक महत्त्व हो सकता है पर वह सार्वजनीन दृष्टि से सहृदय संवेद्य नहीं हो सकता।

इसीलिए आचार्यों ने काव्य में वैयक्तिकता का निषेध किया है। टी० एस० ईलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत भी इसी बात की पुष्टि करता है। काव्य में निजी अनुभूतियाँ और विचार अनेक प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न करते हैं। रोमैंटिक काव्य को लेकर इस पर तरह-तरह की मान्यताएँ प्रस्तुत की गई हैं। इस सिलसिले में इस बात का विचार नहीं किया गया कि चामत्कारिकता के करिश्में भी व्यक्तित्व से ही संबद्ध रहते हैं—निर्व्यक्तित्व से नहीं। बिहारी जहाँ पर्याप्त निर्वैयक्तिक हुए हैं वहाँ उनका काव्य श्रेष्ठता के धरातल पर पहुंच गया है।

संताप दौर्बल्यपरक दोहों तथा उपरिउद्धृत दोहों में एक अंतर और है। पहले प्रकार के दोहे में जिस सत्य की अभिव्यक्ति की गई है वह व्यंजित सत्य को इस तरह ढँक लेता है कि उसकी पूर्ण व्यंजना नहीं हो पाती। काव्य में जो कुछ व्यक्त किया जाता है वह वैज्ञानिक सत्य की तरह खंड सत्य नहीं होता प्रत्युत पूर्ण सत्य होता है। उसकी व्यंजना आगे बढ़ कर कथ्य को पूर्णता प्रदान करती है। परवर्ती दोहों का कथ्य अधिक पूर्ण और व्यंजक है। यही नहीं उनमें व्यक्त संवेदनाएँ अपेक्षाकृत कहीं अधिक गूढ़ और सूक्ष्म हैं।

पहला ही दोहा लीजिए। नायक के विदेश जाने का प्रसंग है। सखी कहती है कि अभी तो प्रथम वियोग से दुखित नायिका के अंगों में स्वाभाविक रंग तक नहीं आया। यह प्रथम वियोग के क्लेश को ही अभिव्यक्त करके नहीं रह जाता, बल्कि इससे प्रथम वियोग का पूरा दुःखात्मक वातावरण व्यंजित हो उठता है। इतना ही नहीं, उस वियोग में तो बेचारी की वह दशा हुई पता नहीं इस वियोग में क्या होगा। प्रथम वियोग से दुर्बल शरीर और उसके रंग (पांडुता आदि) से विरह पूरी अभिव्यक्ति पा जाता है।

दूसरे दोहे के कथ्य की नींव गहरी मनोवैज्ञानिक वास्तविकता पर टिकी है। नायक अत्यंत तीव्रगामी घोड़े पर सवार है, अतः उसे प्रिय के पास पहुंचने में तनिक भी विलंब नहीं लगा। किंतु ग्वैंड़े का रास्ता हजार कोस दूर मालूम पड़ने लगा। सापेक्षवाद के सिद्धांत से परिचित लोगों को इसकी स्वाभाविकता में किसी तरह का संदेह नहीं हो सकता। मानसिक सत्य को भौतिक सत्य से इस तरह बाँधा गया है कि उसकी अस्वाभाविकता खलने के स्थान पर अच्छी लगती है।

चौथा दोहा अत्यधिक मार्मिक है। शास्त्रीय शब्दावली में यह स्मृति संचारी कहा जायगा। श्याम और यमुना तट का कितना गहरा संबंध है। इसी को विचारानुषंग ( association of ideas ) कहते हैं। यमुना तट पता नहीं कितने संदर्भों और अनुभूतियों को जागरित करने में समर्थ हैं। श्याम के साथ उसका कितना गहन संबंध है। इसलिए श्याम की स्मृति आते ही राधिका का यमुना तट की ओर देखना सहज है। यमुना तट अनेक स्मृतियों से लिपटे रहने के कारण इतना उत्तेजक ( evocative ) है कि आँखों से आँसुओं की धारा निकल पड़ती है। उनके आँसुओं से तट का जल क्षणभर को खारा हो जाता है। सारी संवेदना का यह परिणाम इसको अत्यंत गहन और प्रगाढ़ बना देता है। स्मृति-जन्य संवेदनाओं के अंतरसंबंधों को इस ढंग से गुफित किया गया है कि सब मिलाकर वे अत्यधिक मर्मस्पर्शी बन गए हैं।

यही बात अंतिम दोहे के संबंध में भी कही जा सकती है। इस दोहे का मर्म 'कर के मीड़े कुसुमलौं' में निहित है। इसका बिंब इतना संवेदनाशील है कि विरह वेदना अपनी पूर्णता में व्यक्त हो उठती है।

———

## ४

# शृंगारेतर भाव व्यंजना

शृंगार के अतिरिक्त बिहारी में अन्य प्रकार की भावाभिव्यक्तियाँ भी मिलती है। इनके तीन रूप हैं—व्यंग्योक्तियाँ, भक्ति परक रचनाएँ और प्रकृति वर्णन। नीतिपरक रचनाओं को इसके अंतर्गत नहीं लिया सकता, क्योंकि वे मूलतः भाव से नहीं बल्कि नीतिमत्तात्मकता से अनुप्राणित हैं। व्यंग्योक्तियों के संबंध में भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है। पर इनका संबन्ध कोरी नीतिमत्ता से नहीं है और न कोरा बुद्धि-विलास ही इन्हें अनुप्रेरित करता है। एक विशेष भावात्मक स्थिति में जब वाणी वक्र हो उठती है तो व्यंग्योक्तियाँ अपने आप अभिव्यक्ति पा जाती हैं। इसलिए ये मुख्यतः भावानुप्रेरित ही होती हैं। ये कभी क्षोभजन्य मन की उपज होती हैं तो कभी शांत मन की। क्षोभजन्य मन से प्रादुर्भूत व्यंग्योक्तियाँ प्रायः आक्रमणात्मक होने के कारण कटूक्तियाँ बन जाती हैं और कटूक्तियों को न तो जीवन में स्वस्थ माना जाता है और न साहित्य में। शांत मन से निकली हुई व्यंग्योक्तियों में भी जो मीठी चुटकी रहती है उसकी मार अधिक सौजन्यपूर्ण किंतु तीखी होती है। इनके पीछे भी अवचेतन (सबकांसस) मन में छिपा हुआ कोई-न-कोई विरोध होता है। पर यदि यह विरोध व्यक्ति विशेष के प्रति प्रदर्शित किया जा रहा है तो व्यंग्य की गुरुता समाप्त हो जायगी। इसके विषय की व्याप्ति जितनी अधिक होगी व्यंग्य भी उतना ही मार्मिक और प्रभावापन्न होगा।

कवि जिस समाज और वातावरण में रहता है अपने व्यंग्य का विषय भी उन्हीं के बीच से चुनता है। जिस शृंगारिक वातावरण में बिहारी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का विकास किया उसी में से उन्होंने हास-व्यंग्य की सामग्री भी चुनी। यद्यपि संख्या में व्यंग्यपरक दोहे बहुत कम हैं फिर भी उनमें पैनेपन की कमी नहीं है।

जिन पौराणिकों, वैद्यों, ज्योतिषियों और सहृदयों पर व्यंग्य किया है वे सामंतीय सामाजिक व्यवस्था की असंगतियाँ हैं। वे व्यक्ति न होकर टाइप हैं जो तत्कालीन समाज के मर्म का बहुत ही सटीक उद्‌घाटन करते हैं। एक 'पर उपदेश कुशल' की करतूत देखिए--

**परतिय-दोषु पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि।**
**कसु कर राखी मिश्रहू, मुँह आई मुसकानि॥**

किसी कथा प्रेमी समाज में पौराणिक जी कथा सुना रहे थे। वे एक ऐसे प्रसंग की व्याख्या कर रहे थे जिसमें पर-स्त्री-गमन को दोष माना गया था। श्रोताओं में उनकी परकीया भी बैठी हुई थी। उनकी व्याख्या सुनकर वह हँस पड़ी। मिश्र जी ने वह हँसी न देखी हो ऐसी बात नहीं थी। उन्हें भी हँसी आ गई। पर चतुर पौराणिक ने बलपूर्वक अपनी हँसी रोक ली जिससे उनका रहस्योद्‌घाटन न हो जाय।

यह थी उस समय के पौराणिकों की दशा। शास्त्र के सारे विधि निषेध केवल दूसरों के लिए थे। वे उनसे परे, स्वतंत्र और उच्छृङ्खल थे।

अब एक वैद्य जी की पहचान कीजिए--

**बहु धन लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।**
**बैद बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि॥**

वैद्यराज जी ने काफी धन लिया और अपने भस्म की तारीफ करते हुए बड़े निहोरे से दवा दी। बेचारे नपुसक रोगी को क्या पता कि वैद्य जी भी इसी मर्ज़ के मरीज़ हैं। वैद्यराज की वधू भी वहीं बैठी हुई थी। वह रहस्य पूर्ण ढंग से हँसी और अपने पतिदेव का मुह देखकर रह गई।

वैद्यों के शोषण और व्यर्थ दवा पर कितना गहरा व्यंग्य है।

एक ज्योतिषी जी की प्रसन्नता की बानगी भी देखने ही लायक है—

**चित पित मारक जोगु गनि, भयौ भयैं सुत सोगु।**
**फिर हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझैं जारज जोगु॥**

ज्योतिषी जी को पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। जब उन्होंने उसकी कुंडली बना ली तो देखा कि ग्रह संस्था में पितृ मारक योग पड़ा है। इससे उनको बहुत शोक हुआ। पर जन्म में जारज योग समझ कर वे मन ही मन परम प्रसन्न हुए। जान बची लाखों पाए।

किसी रसिक ने एक सुन्दरी से बहनापे का नाता जोड़ लिया है। पर इस नाते के मूल रहस्य को समझती हुई उसकी सखी कहती है—

**बहकि न इहिं बहिना पुली जब तब बीर बिनास।**
**बचै न बड़ी सबील हूँ, चील - घोसुवा माँस॥**

'इस बहनापे की चाल तुम नहीं समझती, इसके चक्कर में न फँसना। इससे कभी न कभी बहुत बड़ा अनर्थ हो जायगा। तुम अपनी तरह ही सबको सरल जानती हो। चील के घोंसले में बहुत उपाय करने पर भी माँस नहीं बचता।'

उस मध्यकालीन युग पर यह व्यंग्य जितना सत्य है उससे कहीं अधिक आज के युग पर। न तो उस समय उस संबंध की पवित्रता का निर्वाह हो पाता था और न वह आज ही होता दीख पड़ता है। आज की पाश्चात्य संस्कृति में बहिन या 'बहिन जी' का अर्थ व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता।

इस तरह की सूक्ष्म व्यंग्योक्तियों का रीतिकालीन कविता में सर्वत्र अभाव मिलेगा। व्यंग्य विनोद की सर्जना बहुत बड़ी प्रतिभा की माँग करती है। इस प्रतिभा के अभाव में व्यंग्य विनोद के नाम पर भड़ौवा की रचना होने लगती है, जिसके नमूने आधुनिक हास्य रस की ढेर की ढेर रचनाओं में प्रायः देखने को मिलते रहते हैं।

बिहारी ने अपनी सतसई में जहाँ एक ओर परकीय प्रेम के संबंध में काफी दोहे लिखे वहाँ उसका मजाक उड़ाने में भी नहीं चूके। इन व्यंग्योक्तियों से यह बात काफी स्पष्ट हो जाती है। इस असंगति का मुख्य कारण यह है कि सामंतीय वर्ग में प्रेम का कोई अस्तित्व नहीं था। वह प्रेम के नाम पर मनोविनोद किया करता था। प्राचीन नागरकों की तरह निश्चिन्त विलास भी ये नहीं कर सकते थे। यह युग न उस वैभव की ऊचाइयों को स्पर्श कर सकता था और न रसिकता

की गहराइयों में उतर सकता था। नैतिकता के भय से उसने अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाया था। इस द्विधा की स्थिति में नैतिकता के लिए कोई खास स्थान नहीं रह पाता। वह और भी विकृत हो जाती है। इस विकृत नैतिकता पर बिहारी ने बहुत ही चुभते हुए प्रहार किए हैं।

भक्ति एक रस है, अब यह निर्विवाद हो गया है। यह सच हो सकता है कि साधारणीकरण की दृष्टि से यह अपेक्षाकृत सीमित है। रस और साधारणीकरण पर विचार करते समय हमारे देश के आचार्यों की दृष्टि सर्वदा पाठक या सहृदय पर रही है। किंतु कर्त्ता या कवि की काव्य-प्रकिया को छोड़ देने का परिणाम यह हुआ कि काव्य नैतिकता के धरातल पर आ खड़ा हुआ। इससे कवि के उचित मूल्यांकन में बाधा भी आई। वास्तव में कवि का सच्चा विश्लेषण दोनों सिद्धांतों के आधार पर ही किया जा सकता है।

**भक्ति भावना**

भक्ति भावना को ही लीजिए। भक्त कवियों की रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि भक्ति उनके जीवन का अनिवार्य अंग हो गई थी। इसीलिए उनकी कृतियाँ भी सहज ही भावोद्रेकक्षम बन सकीं। रीति कवियों की भक्ति भावना या तो परंपरा का पालन करती है या जीवनगत नैराश्य और क्षोभ का आश्रय स्थल प्रस्तुत करती है। बिहारी की भक्ति-परक रचनाओं को पहली कोटि में रखना चाहिए, क्योंकि वे अपने काल के अन्य बहुत से कवियों की भाँति द्विधात्मक स्थिति में नही पड़े और न पेट की चपेट में उन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं।

परंपरा पालन के कारण बिहारी की भक्तिपरक रचनाओं में न भावगत उन्मेष मिलता है और मौलिक उद्भावना। पर यह कहना कि शृंगारिक भावना के आवेश में उन्होंने मुक्ति का निषेध किया है, अत्यंत आश्चर्यजनक है। 'बिहारी और उनका साहित्य' में डा० हरवंशलाल शर्मा और श्री परमानंद शास्त्री ने संयुक्त रूप से उपर्युक्त घोषणा की है। अपने मत की पुष्टि में लेखक द्वय ने बिहारी के निम्नलिखित दो दोहे उद्धृत किए हैं--

**जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति-मुँह दीन।**
**जौ लहिए सँग सजन तौ, धरक नरक हू कीन॥**

**चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट लपटानि।**
**ए जिहिं रति, सो रति मुकति और मुकति अतिहानि॥**

इन दोहों के आधार पर अद्‌भुत निष्कर्ष निकालने के पहले यदि रत्नाकर जी की टीका देख ली गई होती तो इस भ्रांति के लिए अवकाश न मिलता। बिहारी रत्नाकर में प्रथम दोहे की टीका यों की गई है--

'उद्धव जी से गोपियों का वचन--यदि [ मुक्ति ] प्रियतम की युक्ति नहीं है (अर्थात् प्रियतम प्राप्ति की युक्ति के अतिरिक्त कोई और वस्तु है), [ तो हमने ऐसी ] मुक्ति के मुँह में धूल झोंकी (अर्थात् ऐसी मुक्ति से हम बाज आईं); [ और ] यदि प्रियतम संग में प्राप्त हो, तो [ हमको ] नरक की भी धड़क नहीं है।'

क्या इसमें शृंगारिक भावना के आवेश में मुक्ति का निषेध किया गया है? मान लीजिए आपको रत्नाकर जी द्वारा कल्पित प्रसंग नहीं अच्छा लगता है और आप उस दोहे को मौलिक प्रसंग देना चाहते हैं। इससे किसी को एतराज नहीं हो सकता है। पर इस दोहे में प्रेम के जिस उज्ज्वल और उदात्त पक्ष को चित्रित किया गया है, उसे भी तो नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। इस शुभ ऐकांतिक प्रेम में राग की जो सांद्रता है वह इसके मानवीय मूल्य को काफी बढ़ा देती है। इसमें मुक्ति का निषेध देखना तो वैसा ही है जैसा सूर के 'हरि, हौं सब पतितन को राउ' में सूर का चारित्रिक दोष देखना।

इसी प्रकार दूसरे दोहे में भी मुक्ति का निषेध नहीं माना जा सकता। काव्य सत्य और वस्तु सत्य का भेद न करने पर इसी तरह के अद्‌भुत वक्तव्य दीख पड़ते है। बिहारी स्वयं कहते है--

**मोहूँ दीजै मोषु, ज्यों अनेक अधमनु दियौ।**
**जौ बाँधै ही तोषु, तौ बाँधौ अपनै गुननु॥**

वास्तविकता यह है कि शृंगारिक कविताओं की भाँति भक्तिपरक रचनाओं में भी बिहारी ने परंपरा का पालन किया है। भक्तों के मोटे सिद्धांतों को ही इन्होंने अपने दोहों में व्यक्त करना उचित समझा। सामान्य भक्तों की भाँति इनका दृष्टिकोण भी असांप्रदायिक था। बाह्याचार के संबंध में इन्होंने जो कुछ उद्‌गार व्यक्त किए हैं वे भक्त कवियों की भावनाओं के

मेल में हैं। आत्मनिवेदन संबंधी दोहों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

**असांप्रदायिक दृष्टिकोण**

'हिंदी साहित्य के भक्ति काल में भक्त कवियों ने भक्ति की जो मंदाकिनी बहाई उसके प्रखरस्रोत में मत-मतांतरों के क्षुद्र तृण ठहर न सके। तुलसी की सर्व-धर्म-समन्वय की धारणा तथा सूर की स्वच्छ असांप्रदायिक दृष्टि ने इस दिशा में जो स्तुत्य कार्य किया उसका इतना गंभीर और व्यापक प्रभाव पड़ा कि सांप्रदायिक विद्वेष की खाई सर्वदा के लिए पट गई। विभिन्न संप्रदायों में दीक्षित होने पर भी रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त कवियों ने किसी विशेष मत के प्रति आग्रह नहीं व्यक्त किया, प्रत्युत् अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों द्वारा निर्दिष्ट सामान्य भक्ति मार्ग का ही अनुसरण किया।[1]

बिहारी ने अपने समय के सभी कवियों का प्रतिनिधित्व करते हुए लिखा है--

**अपने अपने मत लगै, बादि मचावत सोर।**
**ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ, एकै नन्द किशोर॥**

इसी दृष्टिकोण के कारण राम, कृष्ण, रघुराज, मुरारि सभी समानार्थी हो गए थे। इनको सांप्रदायिक ढंग से इन कवियों ने नहीं देखा। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार'.....राम और कृष्ण में ये लोग कोई भेद नहीं समझते थे। भगवान की एक सामान्य भावना लेकर ही अपनी उक्तियाँ गढ़ा करते थे। यही कारण है कि राम की लीला कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला राम के नाम पर कह देते थे। सूर और तुलसी ने भी ऐसा ही किया है।[2]

**बाह्याचार**

भक्त कवियों और संतों ने प्रायः बाह्य आडंबर को व्यर्थ बतलाते हुए आंतरिक प्रतीति में अपनी आस्था प्रकट की है। रीति कवियों ने इस विषय में स्फुट ढंग से जो कुछ लिखा है वह उन्हीं भक्तों और संतों की परंपरा में पड़ता है--

---

१—डा० बच्चन सिंह, 'रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना', ना० प्रा० सभा, पृ० ४३७।

२—बिहारी, ।

( १ ) जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काचैं नाचैं बृथा, साचैं राचैं राम॥
—बिहारी

( २ ) काहे को बघंबर को ओढ़ि करौ आडंबर,
काहे को दिगंबर ह्वै दूब खाइ रहिये।
कहै 'पदमाकर' त्यों काय के कलेस हित,
सीकर सभीत सीत बात ताप सहिये।
काहे को जपोगे जप काहे को तपौगे तप,
काहे को प्रपंच पंच पावक में दहिये।
रैन दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।
—पद्माकर

सख्य भाव की उपासना में वाणी का वक्र हो जाना स्वाभाविक होता है,

**सख्य और उपालंभ**

क्योंकि सखा भाव के कारण उपासक और उपास्य बहुत कुछ एक धरातल पर आ खड़े होते हैं। इसके फलस्वरूप भक्त उपालंभ देने के लिए भी रास्ता खोज निकालता है। सूर के ढंग पर बिहारी ने इस तरह की उक्तियाँ कही हैं—

( १ ) कौन भाँति रहि है बिरदु, अब देखबी मुरारि।
बीधे मोसों आइकै, गीधे गीधहिं तारि॥
( २ ) मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीते जदुराज।
अपने अपने बिरद की, दुहुन निबाहन लाज॥
( ३ ) नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनो तारन बिरदु बारक बारन तारि॥
( ४ ) बन्धु भये का दीन के को तार्‌यौ रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ॥

यद्यपि भक्तों की देखा-देखी रीति कवियों ने भी भगवान के प्रति आत्म-निवेदन किया है, पर इस निवेदन में वह तन्मयता और विभोरता नहीं है।

**आत्मनिवेदन**

रीतिकवि कवि थे। भक्त कवियों की भाँति उनका पूर्ण जीवन भगवान को कभी समर्पित नहीं हुआ। इसलिए इनकी कविताओं में वह विह्वलता ढूढ़ना इनके साथ अन्याय करना है। कभी कभी इनकी रचनाओं में जो भावपरक

विह्वलता दिखाई पड़ती है वह एक विशेष मानासिक स्थिति की उपलब्धि है। बिहारी की शृंगारपरक रचनाओं की भाँति भक्तिपरक रचनाओं में भी आवेगमयता कहीं नहीं मिलेगी, पर इनमें भी यत्र-तत्र संयम और संवेदन दिखाई देगा। एक उदाहरण लीजिए--

**तजि तीरथ हरि राधिका-तनदुति कर अनुराग।**
**जिहिं ब्रजकेलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग॥**

इसके साथ ही मतिराम का भी एक दोहा देखिए—

**राधा मोहन लाल को, जिन्हें न भावत नेह।**
**परियो मुठी हजार दस, तिनकी आँखिन खेह॥**

आवेग और संवेदना की चर्चा पीछे कहीं उठाई जा चुकी है। अतः यहाँ उसका पिष्टपेषण हमें अभिप्रेत नहीं है। मतिराम के दोहे में कवि की आवेगमयता पूरी ऊँचाई पर पहुँची हुई है। पर बिहारी के दोहे की संवेदनशीलता सहृदयों पर अधिक गहरा और स्थायी प्रभाव डालती है। मतिराम के दोहे में बात आवेगात्मक ढंग से कह दी गई है पर बिहारी के दोहे का कथ्य पाठकों से कुछ अधिक माँग करता है। यों इस प्रकार के दोहे बहुत कम हैं।

भक्त-संतों के वैराग्य, संतोष, नारी-निंदा आदि के बिना इस परंपरा का पूरा निर्वाह नहीं किया जा सकता था। अन्य रीति कवियों की अपेक्षा

**विषयों का निषेध** बिहारी ने इस पर विशेष ध्यान दिया है। इन दोहों में भावों की प्रगाढ़ता तो नहीं है पर वक्रोक्ति जरूर है--

**( १ ) जम करि मुँह तरहरि परयौ इहिं धरहरि चित लाउ।**
**विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥**

**( २ ) दीरघ साँस न लेहि दुख सुख साईं हि न भूल।**
**दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूल॥**

**( ३ ) या भवपारावार कौं उलँघि पार को जाइ।**
**तिय छबि छाया ग्राहिनी गहै बीच ही आइ॥**

प्रकृति के जिन संश्लिष्ट चित्रों की खोज सहृदय करते दीख पड़ते हैं उन्हें बिहारी में देखा जा सकता है। पूरे रीतिकाल में इस तरह ने भावपूर्ण प्रकृति

**प्रकृति-चित्रण** चित्र बहुत कम मिलेंगे। इस दृष्टि से भी बिहारी बेजोड़ हैं--

( १ ) छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गंध ।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर भौंर मधु अंध ॥

( २ ) कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ ।
जगत तपोवन सों कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥

( ३ ) बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन-मन माँह ।
देखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छाँह ॥

पहले उदाहरण में वसंत-श्री का इतनी कम रेखाओं में जितना व्यंजक चित्र खींचा गया है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। गंधपूर्ण वसंती वातावरण अपनी समस्त समृद्धि में चित्रमय हो उठा है। दूसरे उदाहरण में चमत्कार की प्रधानता हो गई है। तीसरे उदाहरण में एक पंक्ति के सहारे निदाघ की भीषणता को पूर्णतः व्यक्त करने में कवि को पूरी सफलता मिली है।

———

५

## अभिव्यक्ति के प्रसाधन

अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए कवि को भाषा का माध्यम ग्रहण करना पड़ता है। कभी ये अनुभूतियाँ इतनी सशक्त होती हैं कि वाणी के माध्यम से अपने आप फूट पड़ती हैं और कला के समस्त उपकरण अनायास आ जुटते हैं। कभी यह भी होता है कि कला के पूर्वनिश्चित उपादान अनुभूतियों अथवा संवेगों के प्रखर प्रवाह को सँभाल नहीं पाते। वे स्वयं उसमें बह कर बिखर जाते हैं। किंतु अनुभूतियाँ अपना नया आकार ग्रहण कर लेती हैं। ऐसा प्रायः रोमैंटिक कवियों के साथ होता है। इसलिए रोमैंटिक कवियों ने परंपरागत बंधनों में बँधना कभी भी स्वीकार नहीं किया। किंतु एक विशेष आकार को स्वीकार कर चलनेवाले कवि अपेक्षाकृत अधिक सचेत होते हैं। फलस्वरूप उन्हें कलात्मक निर्मिति का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। बिहारी में जो कलात्मक सफाई, काट-छाँट, साज-सज्जा दिखाई देती है वह उनकी सजगता और सतर्कता का परिचारक है।

निराकार अनुभूतियों को आकार देने के लिए कवि उनका संमूर्तन करता है अर्थात् उन्हें चित्र रूप में प्रस्तुत करता है। इस संमूर्तन के लिए वह नपी-तुली रेखाओं, आवश्यक रंगों, समुचित परिप्रेक्ष्य का पूरा ध्यान रखता है। काव्यगत

संमूर्तन ( इमेज ) बाह्याकार का अनुकरण नहीं होता, वह मुख्यतः कवि की कल्पना और अनुभूतियों से निर्मित होता है। बाह्य जगत के रूप-विन्यास से प्रभावित होकर कवि जब उसे भाषा में उतारने का प्रयास करता है तो उसे स्वतः नये सौंदर्यबोधात्मक संदर्भ मिल जाते हैं जो विषय और भावों को एक प्रतीकात्मक अर्थ भी प्रदान करते हैं।

संमूर्तन की कोशगत मनोवैज्ञानिक परिभाषा है—'Image is a revival, reproduction by memory, in the mind, of some sensuous experience undergone in the past, including the visual, auditive, tactile, and other impressions associated with it.'[1] अर्थात् भूतकाल के चाक्षुष, श्रवणात्मक ,संस्पर्शात्मक तथा अन्य अनेक प्रभावों के संयोग से जिन स्मृत्यात्मक अनुभूतियों को पुनः स्थापित किया जाता है उन्हें संमूर्तन की संज्ञा दी जाती है। पर कला में बाह्य जगत से गृहीत भूतकालीन स्मृतियों का पुनः सृजन होता है। इसी से तो कहा जाता है कि कला प्रकृति के अभावों की पूर्णता है। इस पुनः सृजन में अनेक प्रकार के संमूर्तनों—चाक्षुष, श्रवणात्मक संस्पर्शात्मक आदि—को आवश्यकतानुसार संमिश्रित भी कर लिया जाता है। इनके सुन्दर और औचित्यपूर्ण संमिश्रण से संमूर्तनों की प्रभावोत्पादनक्षमता बहुत बढ़ जाती है। रूप, रस, गंध, स्पर्श सभी का समावेश काव्य को अत्यधिक उदात्त बना देता है। आश्रय और आलंबन की अनेकानेक चेष्टाओं और अनुभावों का चित्र संमूर्तन विधान के ही अंतर्गत आएगा।

'साधारणतः काव्य-चित्रों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—लक्षित चित्र श्रेणी ( डाइरेक्ट इमेजरी ) और उपलक्षित चित्र श्रेणी ( फिगरेटिव इमेजरी)। मुख्यतया बाह्य रेखाओं पर आधारित रहने के कारण लक्षित चित्रों को रेखाचित्र की अभिधा दी जा सकती है। रेखाचित्रों में आलंबन के रूप-सौंदर्य और उसकी चेष्टाओं आदि को अंकित किया जाता है। काव्य में उपलक्षित चित्रों को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इन चित्रों में कवि अपने घनीभूत भावों को अप्रस्तुतों के सादृश्य विधान द्वारा बहुत सरस और मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करता है।'[2] इनके अतिरिक्त विशेषणों और शब्द-

---

१—Ronald Peacock, the Art of Drama, P. P. 96

२—डा० बच्चन सिंह, रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, ना० प्र० सभा, काशी। पृ० ३२३-८४

ध्वनियों से भी भावों का संमूर्तन किया जाता है। यहाँ पर हम विशेषणों और शब्दध्वनियों पर आधारित संमूर्तनों की विवेचना करेंगे। इसके पश्चात् लक्षित तथा उपलक्षित चित्रों का विश्लेषण किया जायगा।

भावोद्दीपन में उपयुक्त और चित्रोपम विशेषणों का चयन काव्य-शिल्प का विशिष्ट उपकरण है। सामान्य विशेषण बहुत कुछ अस्पष्ट और अमूर्त रहने के कारण हमारी भावना को आकार नहीं दे पाते। काव्योचित विशेषण इंद्रियगोचर मूर्त रूप की सृष्टि में अधिक समर्थ होते हैं। वे स्पष्ट रूप से विशेष क्रिया, अर्थ या रुचि का द्योतन करते हैं। ये अपने आप में विशेष्य के व्यापार नहीं हैं। इनके मूल में कवि का अपना दृष्टिकोण भी निहित है। वस्तु के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए ही विशेषण का चुनाव किया जा सकता है, उसका पर्यायवाची विशेषण कवि का अभिप्रेत अर्थ नहीं दे सकता। इस तरह के उपयुक्त विशेषणों के चुनाव में बिहारी बेजोड़ हैं। नीचे कुछ विशेषणों के उदाहरण दिए जाते हैं, जिनका चुनाव बिहारी बोधिनी के आधार पर किया गया है--

बंक बिलोकनि ( दो० ७६ ), अनियारे नयन ( दो० ८६ ), अहेरी नैन ( दो० १२७ ), ललचौंही चखनि ( दो० २३६ ), लगौहें नैन ( दो० ४०३ ), अलसौंहे नैन ( दो० ४११ ), तिलौछें नैन ( दो० ४२५ ), निगोड़े नैन ( दो० ४५८ ), उतंग, खरे उरोजनि ( दो० ५६६) सुरँग कुसुम्भी चूनरी ( दो० ११८ )

बिहारी ने आँखों के लिए प्रायः एक ही विशेषण का प्रयोग किया है। ऐसा करने के मूल में दो कारण दिखाई पड़ते हैं। एक तो बिहारी सजग कलाकार होने के नाते शब्दों का खूब जान-बूझकर प्रयोग करते है दूसरे उनके दोहों की संकीर्ण सीमा में बहुत से विशेषण आ भी नहीं सकते थे। आकारमूलक विशेषण बिहारी में कम ही मिलेंगे। इनके विशेषणों को क्रियामूलक (functional) कह सकते हैं। अपने विशेष्यों के स्वभाव या क्रिया को अंकित करने के लिए उन्होंने क्रिया-विशेषणों का प्रयोग अधिक किया है। पर इन विशेषणों के मूल में बिहारी की अपनी मनोवृत्ति भी अनुस्यूत है। 'ललचौहें' 'लगौहें' 'अलसौहें' आदि विशेषण विशेष्य के विशेष स्वभाव के साथ ही यह भी सूचित करते हैं कि बिहारी का प्रेम मुख्यतः क्रीड़ात्मक था। घन आनंद के विशेषण बिहारी के विशेषणों से सर्वथा भिन्न हैं। 'तृषित चखनि' 'अँखियाँ दुखदाई' में कवि की मनोदशा का व्यथापूर्ण चित्र अंकित हुआ है।

मुक्तकों में प्रायः यह देखा जाता है कि परिस्थिति विशेष में आश्रय की कल्पना करनी पड़ती है। विशेषणों में जिस चित्रोपमता का विधान किया जाता है वह बहुत कुछ आश्रय के दृष्टिकोण का—इसे कवि का दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है—परिचायक होता है[1]।

**ध्वनि-चित्र**

परिवेश निर्माण के निमित्त काव्य में ध्वनि-चित्रों का विशेष महत्त्व है। कविता और कथा-साहित्य में ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा उत्तेजनात्मक प्रतिध्वनियाँ पैदा की जाती हैं। काव्य में प्रतिध्वनियाँ मूलतः संवेगों पर चोट करती हैं और कथा-साहित्य में बाह्य यथार्थ का बोध कराती हैं। कविता में इनकी गूँज का महत्त्व है तो कथासाहित्य में इनकी चित्रात्मक शक्ति का।

रीतिकालीन कवियों ने प्रायः तीन प्रकार की शब्द-ध्वनियों का प्रयोग किया है—(१) रणनात्मक (२) अनुकरणात्मक और (३) व्यंजक। प्रथम शब्दध्वनि सर्वाधिक मुखर और सबसे कम व्यंजक है। दूसरी स्थिति पहली और तीसरी की मध्यवर्तिनी है।

रति के विशिष्ट प्रसंगों में श्रुतिमधुर ध्वनियों की रणानात्मक शोभा देखिए—

**( १ ) झाँझरियाँ झनकैंनी खरी खनकैंगी चुरी तनकौ तन तोरे।**

**—दास**

**( २ ) झिल्लिन लों झहनाइ के किंकिन बोलें सुकी सुक को सुखदैनी,**
**यो बिछियान बजावत बाल मराल के बालनि ज्यों मृगनैनी।**

**—तोष**

पर बिहारी की रणनात्मक ध्वनियाँ इतना शोर नहीं मचातीं। वे अपेक्षाकृत संयमित और व्यंजकतापूर्ण है—

**( १ ) छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गंध।**
**ठौर ठौर झौंरत झँपत झौंर-झौर मधु-अंध॥**

**( २ ) रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु नीरु।**
**मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजरुकुंज-समीरु॥**

---

१—विस्तार के लिए देखिए—'रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना' का 'प्रेमव्यंजना की भाषा शैली' अध्याय।

'झौंरत' 'झँपत' तथा 'झौंर-झौंर' से भँवरों का पागल होकर पुष्प गंध की ओर आकृष्ट होना, दौड़ना, गिर पड़ना बहुत ही अच्छी तरह व्यंजित हो उठता है। इसी प्रकार दूसरे दोहे में 'रनित' और 'घंटावली' शब्द भी ध्वन्यात्मक हैं जो एक परिवेश विशेष का निर्माण करने में पूर्ण समर्थ हैं। इस माध्यम से संस्कृत के कवियों ने भी बहुत सुन्दर वातावरण निर्माण किए हैं। भवभूति का एक उदाहरण देखिए--

**गुञ्जस्कुञ्जकुटीर कौशिकघटाघूत्कार संवेलित-**
**क्रन्दत्फेरवचण्डधात्कृतिभृतप्राग्भारभीमैस्तटैः।**
**अन्तःकीर्ण करङ्कपंरतरत्संरोधिकूलं कष-**
**स्रोतोनिर्गमघोद्घर्घररवा पारेश्मशानं सरित॥**

इसमें श्मशान का वातावरण अपनी पूर्ण भयंकरता में चित्रित हो उठा है। छायावादी कवियों में निराला और पंत ने ध्वन्यात्मक शब्दों से रसात्मक वातावरण का बहुत सुदर निर्माण किया है।

अनुकरणात्मक शब्द-ध्वनि का एक उदाहरण देखिए--

**रुक्यो साँकरे कुंज मग करत झाँझ झुकरात।**
**मंद मंद मारुत तुरँग खूँदिन आवत जात॥**

'झाँझ' और 'झुकरात' शब्द शरारत और झोंके का व्यंजनात्मक चित्र उपस्थित करते हैं।

तीसरे प्रकार के वे शब्द हैं जो नाद-तत्त्व (एलीमेंट आफ साउंड) द्वारा आभिव्यक्त होते हैं। उदाहरणार्थ--

**लहलहाति तन तरुनई लचि लग लौं लफि जाइ।**
**लगै लाँक लोहन भरी लोहनु लेति लगाइ॥**

हरी-भरी खेती का हवा और धूप में हिलते-डोलते और चमकते देखकर लोग कहते हैं कि खेत खूब लहलहा रहे हैं। तरुणाई के प्रसंग में इसके मुख्यार्थ का बाध होता है और लक्षणा के सहारे इससे स्वस्थ, प्रसन्न और मादक यौवन की अर्थप्रतीति होती है। इसी तरह देव के 'उमड़्यो परत रूप' में लक्ष्यार्थ द्वारा रूपाधिक्य का इंद्रियग्राही चित्र उपस्थित किया गया है। काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से ऐसे शब्दों का विशेष महत्त्व है।

रीति कवियों ने अपने काव्य को अनेक प्रकार से अलंकृत किया है। अलंकृति को अलग करके इन काव्यों का अध्ययन बहुत कुछ अधूरा रह

जायगा। इसके लिए कवियों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता—वह युग का धर्म था। इस अलंकृति को उस समय के किसी भी सांस्कृतिक क्षेत्र में देखा जा सकता है—चित्र में, वास्तुकला में, संगीत में। यदि यह कहा जाय कि उस समय का सारा जीवन अलंकृतिमय हो चुका था तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः यह स्वाभाविक था कि जीवन की सहज स्फूर्ति खो जाती। काव्य के लिए भी यही सत्य है।

इस अलंकृति का परिणाम यह हुआ कि रीति काव्यों में अनेक मनोरम चित्रों की अवतारणा हो गई। यों तो चित्रमयता भाषा का सहज धर्म है, पर चित्रों की इतनी बहुलता शायद ही और कहीं दिखाई पड़े। चित्रों के अतिरिक्त ध्वनि और अलंकार का समावेश भी प्रसाधन के रूप में इन्होने किया है। इसलिए बिहारी के काव्य-प्रसाधन का विवेचन करने के लिए भी हमें उन्हीं उपकरणों का ध्यान रखना होगा।

पीछे लक्षित चित्र योजना (Direct imagery) और उपलक्षित चित्र-योजना (Figuratine imagery) की बात कर आए हैं। लक्षित चित्र-योजना वह है जो सहज ढंग से लक्षित हो जाती है। इसमें प्रधानतया रेखा और रंगों का प्रयोग होता है। उपलक्षित चित्र-योजना का संबंध सादृश्यमूलक अलंकारों से है। वह अपेक्षाकृत अधिक गूढ़ और व्यंजक होती है।

**चित्र-योजना**

रेखा-चित्र केवल स्थूल चाक्षुष चित्र नहीं है, उसमें शब्द, स्पर्श, गंध, रस को भी समाविष्ट समझना चाहिए। काव्य में केवल चाक्षुष चित्र (Visual Imagery) का, जिसमें शब्द, स्पर्श आदि का समावेश नहीं होता है, विशेष मूल्य नहीं आँका जाता। ऐसे चाक्षुष चित्र प्रायः जड़ और मोटे रूप में वस्तुमुखी होते हैं और वे सूक्ष्म इंद्रियबोध को संतुष्ट करने में प्रायः अशक्त दीख पड़ते हैं।[1]

**लक्षित चित्र योजना**

रेखा-चित्रों में जिन वस्तुओं, मुद्राओं अथवा भंगिमाओं को अंकित किया जाता है उन्हें इतना वास्तविक नहीं होना चाहिए कि कला में उनकी गणना ही न हो सके। वे भी वास्तविकता का भ्रम ही पैदा करती हैं। इसे और

---

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, ना० प्र० स०, काशी, पृ० ३८४

स्पष्ट शब्दों में यों कहना होगा कि वस्तुतः कलात्मक चित्र वास्तविकता के किसी-न-किसी नए पक्ष का स्पर्श करते हैं।

वास्तविकता का यह नया पक्ष कवि की रुचि, संस्कृति आदि से अच्छी तरह संबद्ध होता है। इन चित्रों से उसकी उद्देश्यता पर भी प्रकाश पड़ता है। पर उनकी सफलता इसमें नहीं है कि वे किन उद्देश्यों को प्रकट करते हैं बल्कि इसमें है कि वे किस सीमा तक पाठकों की संवेदनाओं को जगाते अथवा उनके संवेगों को तीव्र बनाते हैं।

कुछ रेखा-चित्रों को देखिए—

**कंजनयनि मंजन किये बैठी ब्यौरति बार।**
**कच अँगुरिन बिच डीठिदै चितवति नंदकुमार॥**

इस चित्र में पाँच रेखाओं का प्रयोग किया गया है—कंजनयनि; मंजन किये; बैठी ब्यौरति बार; कच अँगुरिन बिच डीठिदै, और चितवति नंदकुमार। ये सभी रेखाएँ चित्र को पूर्णता प्रदान करती हैं। एक विशेष संदर्भ के अनुरूप अर्थपूर्ण उपकरणों को चुन लिया गया है। अपेक्षित उपादानों का कुशलतापूर्वक चयन और उनका सुरुचिपूर्ण संगुंफन बिहारी के चित्रों की कलागत विशेषता है। ये दोनों बातें बिहारी के प्रायः प्रत्येक चित्र में मिलेंगी। कलागत चित्र और वास्तविकता में अंतर होता है। पहले में कलागत सत्य का उद्घाटन होता है तो दूसरे में वैज्ञानिक सत्य का। कलागत सत्य में कलाकर की अपनी दृष्टि निहित होती है। इसकी दूसरी विशेषता यह होती है कि यह एक विशेष माध्यम ( भाव, रेखा, रंग आदि ) में, अपनी व्यंजकता में, स्थिर रहता है जब कि वास्तविक वस्तुएँ समय के साथ परिवर्तित होती रहती हैं। यह चित्र हमारी ऐंद्रिय चेतना को छूने में समर्थ है। इसकी व्यंजकता को ठीक से परखने के लिए पद्माकर का एक चित्र देखिए—

**छाजति छबीली छिति छहरि छरा को छोर,**
**भोर उठि आई केलि-मंदिर के द्वार पर।**
**एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,**
**एक कर कंज एक कर है किवार पर॥**

पद्माकर का यह वर्णन बहुत कुछ फोटोग्रैफी के निकट पहुँच गया है। अंतिम दो पंक्तियों में यह जड़ हो गया है। पर बिहारी के उपर्युक्त चित्र में 'ब्यौरति' और 'चितवति' ने चित्र को सजीव बना दिया है।

**अरे दहेंड़ी जिनि धरै, जिनि तू लेहि उतारि।**
**नीकै है छींकै छुवै, ऐसैई रहि नारि॥**

पहले चित्र की अपेक्षा यह अधिक स्थिर है। अपनी व्यंजना के बावजूद भी इसकी ग्राम्यता ऐंद्रियोत्तेजक हो जाती है। यहाँ पर बिहारी की चामत्कारिकता देखी जा सकती है, संवेदनात्मकता नहीं।

संवेदना मूलक चित्र दूसरे हैं—

**( १ ) खलित बचन, अध खुलित दृग, ललित स्वेद कन जोति।**
**अरुन बदन छबि मद छकी, खरी छबीली होति॥**

**( २ ) लखि लखि अँखियन अध खुलित, आँगु मोर अँगराइ।**
**आधिक उठि लेटत लटकि, आलस भरी जम्हाइ॥**

**( ३ ) चाले की बातैं चली, सुनत सखिन के टोल।**
**गोऐं हूँ लोचन हँसत, बिहँसत जात कपोल॥**

प्रथम दो मुद्राएँ हैं—एक मद विह्वला की, दूसरी रतिश्रांता की। दोनों में कवि की पर्यवेक्षण-शक्ति एवं चयन की सूक्ष्मता को देखा जा सकता है। यहाँ पर भी वही बारीकी है जो उस समय के चित्रों और वास्तुकला में प्रकट हुई है। 'कंजनयनि···' वाले दोहे में व्यक्त मुद्रा और इनमें व्यक्त मुद्राओं में स्पष्ट अंतर देखा जा सकता है। उसे चित्र में भी बाँधा जा सकता है पर ये चित्र की रेखाओं में नहीं अँट सकते।

इनके लिए चित्र नहीं, चलचित्र की आवश्यकता होगी। रेखाओं में खलित बचन कैसे चित्रित किया जायगा? आधी खुली हुई आँखों, स्वेद कण की ज्योति, अरुण बदन छबि, मद-विह्वलता आदि को रेखाओं में बाँधा जा सकता है पर खरी 'छबीली होति' को तो प्रकाश की उचित व्यवस्था द्वारा ही दिखाया जा सकता है। उसी तरह दूसरे दोहे में 'लख अँखियन अधखुलित' को तो रेखाओं में आँका जा सकता है पर 'लखि लखि अँखियन अधखुलित को' नहीं। इसमें सभी भंगिमाएँ रेखाओं में नहीं अंकित की जा सकतीं। एक को पकड़ने में दूसरे को छोड़ना पड़ेगा। दोनों चित्र काफ़ी मनोरम हैं। तीसरे चित्र में रेखाएँ कम हैं पर द्वितीय पंक्ति प्रभावोत्पादकता में प्रथम दो चित्रों का अतिक्रमण कर जाती है। इसके अनुभावों में मानसिक प्रतिक्रियाओं को अत्यंत कौशल से ग्रथित कर दिया गया है जो पाठकों को सहज ही संवेदनापूर्ण बना देता है। 'खलित बचन···' और 'लखि लखि अँखियन···' द्वारा

उल्लिखित चित्र अपने आप में पूर्ण हैं पर वे किसी विशेष मानसिक भाव को उद्रिक्त नहीं करते, इसलिए वे पाठकों को अनुभूति मय बना पाने में असमर्थ हो जाते हैं। दोहा सं० १–२ में मात्र भौतिक या शारीरिक तत्त्वों के अनुषंग में संघटित किया गया है। मनुष्य भावजीवी प्राणी है, उसे केवल भौतिक तत्त्वों से ही संतोष नहीं होता। वह भावजगत और अध्यात्म जगत की भी खोज करता है।

कलात्मक सर्जना में संवेदना ( feeling ) का सर्वाधिक महत्त्व है। कला में इसकी अभिव्यक्ति दुहरी होती है––संवेदना किसी वस्तु विशेष के लिए होती है और एक विशेष प्रकार की होती है। दूसरे शब्दों में इसका आविर्भाव किसी प्राणि विशेष के संबंध में होता है और वैसा होने पर हम एक विशेष प्रकार की मनोदशा में पहुँच जाते हैं। यह संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं से भिन्न होती है। संवेदना की भाँति ही संवेगों का संबंध भी बाह्य जगत से होता है। पर दोनों का मुख्य अंतर यह है कि एक में निजीपन (व्यक्तित्व) का अधिक से अधिक परिहार दिखाई पड़ता है तो दूसरी में निजीपन या व्यक्तित्व का संयोग। एक में बाह्य जगत के संबंध में आने पर जो प्रतिक्रिया होती है वह व्यापक और सार्वजनीन होती है जब कि दूसरे में वह बहुत कुछ सीमित और निजी होती है। इसलिए संवेग में एक आवेगमयता होती है जो संवेदना में नहीं दिखाई पड़ती। पर उसमें संवेदना की गंभीरता और मर्मस्पर्शिता उतनी नहीं आ पाती। पहली को क्लासिकल और दूसरी को रोमैंटिक कविता कह सकते हैं।

बिहारी क्लासिकल कवि हैं। उनकी अनुभूतियाँ संवेदनात्मक हैं। यह विशेषता उनके उपर्युक्त चित्रों में देखी जा सकती है। यह दूसरी बात है कि किसी में अनुभूति अधिक सांद्र हो उठी है किसी में कम। यह मात्राभेद कविता में सर्वत्र ही परिलक्षित होता है। इस मात्राभेद का विवेचन करने के लिए फिर पीछे लौटना पड़ेगा। दो० सं० ३, सं० १–२ की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, व्यंजक और प्रभावोत्पादक है। इसके उत्तर में भी कहना होगा कि उनमें अभिव्यक्त अनुभूति का संबंध जिस बाह्य जगत से है वह अधिक वास्तविक है और उन दोनों का अंतरसंबंधस्थापन इस ढंग से किया गया है कि पाठकों की चेतना उद्‌बुद्ध हो उठती है। प्रिय के भावी मिलन की कल्पना मात्र से––अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ है––जो कायिक अनुभाव उत्पन्न होते हैं वे सभी प्रसन्न मनोभावों को व्यक्त कर देते हैं। ये अनुभाव ही चित्र

के रंग रेखा हैं और वे इतने समर्थ हैं कि पाठकों में तुरंत अनुकूल वेदनीय अनुभूति उत्पन्न कर देते हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में इसमें 'कंजनयनि···' की अपेक्षा अनुभूति का सूक्ष्मतर स्तर आकलित हुआ है।

मेरी दृष्टि में 'कंजनयनि' में संबद्ध चित्र उससे अधिक प्रगावोत्पादन क्षमता रखता है। केवल अनुभाव-विधान से ही चित्र की श्रेष्ठता नहीं स्वीकार की जा सकती। चित्रों की उत्कृष्टता चित्र होने में नहीं है, क्योंकि चित्र साधन हैं साध्य नहीं। साधन के रूप में उनकी सफलता-असफलता का निरूपण किया जा सकता हैं। चित्रों के माध्यम से अनेक अनुकूल-प्रतिकूल भावों को—प्रभावपूर्ण ढंग से अंकित किया जा सकता है। कवि जितने ही सूक्ष्म और जटिल भावों को संतुलित कर सकेगा चित्र उतना ही काव्योपम और श्रेष्ठ होगा। 'कंजनयनि···' दोहे में एक विशेष मुद्रा में नायिका का नायक को देखना चित्र की अनेक भावनाओं को—आशा-निराशा, राग-विराग, चिंता, उत्सुकता, उत्कंठा—को कुरेद देता है; जो उक्त दोहे द्वारा संभव नहीं है।

बिहारी के इस प्रसिद्ध दोहे को भी देखें—

**कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।**
**कहुँ मुरली, कहुँ पीतपट, कहूँ मकुट, बनमाल॥**

यह मात्र अस्तव्यस्तता का चित्र नहीं है—आँखों की प्रभावोत्पादकता की अनुभूत्यात्मक सघनता का चित्र है, नायक की प्रेम-विह्वलता का चित्र है। प्रेम विह्वलता का यह आतिशय्य आँखों के सौंदर्य और प्रभाव का सूचक है।

चित्रों में जहाँ सांकेतिकता कम और अभिधेयात्मकता अधिक हो गई है वे चित्र प्रायः निष्प्रभ हो गए हैं—

**भौंह उचै आँचरु उलटि, मौर मोरि मुँह मोरि।**
**नीठि नीठि भीतर गई, डीठि डीठि सों जोरि॥**

कवि भावों को समृद्ध करने के लिए रंगों का प्रयोग करता हैं। रंगों के उपयोग से चित्र की व्यंजकता भी बढ़ जाती है। वह प्रकृति में बिखरे हुए नाना रंगों में से अपने अनुकूल रंगों का चयन करता है। कभी वह अनुरूप वर्ण-योजना से नायिका के सौंदर्य को आकर्षक बना देता है, तो कभी विविध रंगों के आनुपातिक मिश्रण से सौंदर्य को उभार देता है। कभी वह प्रतिकूल

**वर्ण-चित्र**

वर्णों को सामने लाकर प्रिय के सौंदर्य को चटकीला बनाता है तो कभी वर्ण परिवर्तन से उसकी मानसिक-स्थिति का भावात्मक बोध कराता है। इस प्रकार के वर्ण-चित्रों के निर्माण में बिहारी और देव अद्वितीय हैं।

**अनुरूप वर्ण-योजना**

अनुरूप वर्ण-योजना के अंतर्गत वे चित्र आते हैं जिनमें बहुत कुछ मिलते-जुलते रंगों (मैचिंगकलर्स) का प्रयोग इस ढंग से होता है कि सौंदर्य में नवीन आकर्षण आ जाता हैं--

**भई जु छबि तन बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन।**
**आँग-ओप आँगी दुरी, आँगी आँग-दुरै न॥**

नायिका संदली अँगिया पहने हुए हैं। उसके शरीर के रंग से कपड़े का रंग ऐसा मिल गया है कि कपड़ा लक्षित नहीं होता। अंग की चमक में अँगिया छिप गई है किंतु अँगियाँ से अंग नहीं छिपता। अतः इस समय नायक को नायिका की अद्भुत छबि दिखाई पड़ेगी। नायिका की जिस अद्भुत छबि की व्यंजना इस दोहे से होती है वह चात्मकारिक होने के साथ-साथ रीति-कालीन सामंतीय मनोवृत्ति के कितने अनुकूल है!

**वर्णों का मिश्रण**

वर्णों के मिश्रण में कवि को दुहरे दायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। एक ओर उसे चित्र विशेष के लिए अनुकूल रंगों का चुनाव करना होता है और दूसरी ओर रंगों के आनुपातिक मिश्रण पर ध्यान देना पड़ता है। बिहारी और देव में विभिन्न रंगों के मिश्रण की कला विशेष रूप से दिखाई देती है। इनमें भी रंगों की छायाओं (शेड्स आफ कलर्स) की अद्भुत पकड़ में बिहारी की दृष्टि अचूक है।

बिहारी के रंग परिज्ञान तथा उचित रंगों के मेल की क्षमता 'सतसई' के पहले दोहे से ही परिलक्षित होने लगती है। इस दोहे में राधिका की शोभा, सौन्दर्य और अंगद्युति को उभार कर सामने रखना ही कवि का मुख्य प्रयोजन है। इसी तरह कई रंगों के मेल से बाँसुरी की इन्द्रधनुषी शोभा देखिए—

**अधर धरत हरि के परत ओठ डीठि पट जोति।**
**हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष छबि होति॥**

वयःसन्धि की अवस्था को बिहारी ने धूप-छाँह के रंग में देखा है—

**छुटी न खिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग।**
**दीपति देह दुहून मिलि, दिपत ताफता रंग॥**

धूप-छाँह के रंग-संकेत से वयःसन्धि की शोभा कितनी भावपूर्ण हो गई है।

**विरोधी वर्ण-योजना**

विरोधी रंगों की योजना से भावात्मक चित्रों के उरेहने का प्रयास पूरे रीतिकाल में कम मिलेगा, किन्तु बिहारी ने इस ढंग से भी नायिका की छवि का भावपूर्ण अंकन किया है—

**छप्यो छबीलो मुखलसै, नीले आँचर चीर।**
**मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर॥**

× × ×

**सोन जुही सी जगमगै, अँग अँग जोबन जोति।**
**सुरँग कुसुंभी चूनरी, दुरँग देह दुति होति॥**

प्रथम दोहे में नीले और श्वेत रंग का विरोध है और दूसरे में पीले और लाल का। एक में उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा और दूसरे में पूर्णालंकार द्वारा चित्र को खूब अच्छी तरह निखार दिया गया है। पहले में रूपाधायक अंश मुख्य है दूसरे में संपूर्ण अंग की कांति। इस तरह नायिका की जगर-मगर करती हुई अंग-ज्योति उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य को प्रतिभासित कर जाती है।

जहाँ केवल चमत्कार प्रदर्शन की दृष्टि से बिहारी ने रंगों का प्रयोग किया है वहाँ चित्र काव्योत्कर्षक्षम नहीं बन पड़े हैं—

**जटित नीलमणि जगमगति सींक सुहाई नाँक।**
**मनौ अली-चंपककली बसि रसु लेतु निसाँक॥**

नायिका की शोभायुक्त नाँक में नीलम-जड़ी सींक जगमगा रही है, मानो भौंरा निश्शंक भाव से चंपे की कली पर बैठा रस ले रहा है। इसमें नील-पीत रंगों के विरोध से नायिका की शोभा वर्णित है। पर इससे कोई भावचित्र नहीं उभर पाता।

**वर्ण-परिवर्तन**

वर्ण-परिवर्तन मनः-स्थितियों का प्रकाशक सहज कायिक व्यापार है। किसी मर्मस्पर्शी बाह्य घटना का प्रभाव हमारे ऊपर ऐसा पड़ता है कि उससे चेहरे का रंग तत्काल बदल जाता है। कभी वह लाल हो जाता है तो कभी पीला, कभी सफ़ेद हो जाता है तो कभी काला। यह परिवर्तन इतना सहज और आकस्मिक होता है कि उससे घटना-विशेष का संबंध जोड़ लेने में कोई

कठिनाई नहीं पड़ती। मानसिक व्यापारों का शरीर से गहरा संबंध है। मानसिक व्यापार शरीर पर गहरे प्रभाव छोड़ जाते हैं। प्रेम-प्रसंगों में जो रंग आता है वह लाल होता है। इस ललाई की गणना अनुभावों के अंतर्गत होनी चाहिए। पश्चिम के कवियों ने चेहरे की लज्जा-जन्य-ललाई का प्रचुर वर्णन किया है। रीति-बद्ध कवि प्रायः गिने-गिनाए अनुभावों के चतुर्दिक चक्कर लगाते रहे। फिर भी उनमें वर्णपरिवर्तन के कुछ अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं।

बिहारी की नायिका का वर्ण-परिवर्तन देखिए—

**पहिरत हीं गोरे गरें, यों दौरी दुति लाल।**
**मनौ परसि पुलकित भई, मौलसिरी की माल॥**

नायक ने मौलश्री की माला सखी द्वारा नायिका के पास भेजी है। सखी नायिका को माला पहना कर आई है और वह नायक से नायिका की दशा का बर्णन करती है। गोरे गले में माला पहनते ही वह लज्जा से लाल हो गई। यह ललाई उसकी प्रेमानुभूति की द्योतक है।

लज्जा के कारण लाल होने का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र देखिए—

**ज्यों ज्यों परसत लाल तन, त्यों त्यों राखत गोय।**
**नवल बधू डर लाजतें, इन्द्र बधू सी होय॥**

**—मतिराम**

नायिका नवोढ़ा है। नायक ज्यों-ज्यों उसके शरीर का स्पर्श करता जाता है त्यों-त्यों वह संकुचित होती जाती है। वह डर और लज्जा के कारण इंद्र वधू के सदृश बन जाती है। 'इन्द्र-वधू' को छू दीजिए कि वह छुई-मुई हुई। उसका लाल रंग नायिका की लज्जा को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। 'इन्द्र वधू' शब्द वस्तुतः उपलक्षित चित्र योजना के अन्तर्गत आता है। इसके माध्यम से लज्जा के समस्त व्यापार विवृत हो उठते हैं।

शरीर के रंग ( गोराई ) से नायिका की माला का रंग बदल गया है। पर अज्ञातयौवना होने के कारण उसे इसका पता नहीं चलता। इस वर्ण-परिवर्तन का अत्यंत नयनाभिराम चित्र 'बेनी प्रबीन' ने खींचा है—

**काहूहूई गूँथि बबा की सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति आला।**
**आई कहाँ है इहाँ पुखराज की, संग गई जमुना तट बाला॥**

**न्हात उतारी हौं 'बेनी प्रबीन' हँसै सुनि बैनन नैन रसाला।**
**जानत ना अंग की बदली, सब सों बदली बदली कहै माला॥**

नायिका के गले में जो गजमोतियों की माला पड़ी थी उसका रंग बदल गया है। इस पर वह बेहद हैरान है–'बाबा की शपथ है कि मैंने अभी कल ही तो गजमोतियों की एक सुन्दर माला पहनी थी, किन्तु यह पुखराज की माला कहाँ से आ गई? कहीं यमुना-तट पर स्नान करते समय किसी की माला से यह बदल तो नहीं गई!' उस बेचारी मुग्धा को क्या पता कि शरीर की पीताभ छाया के कारण गजमुक्ताओं की श्वेत माला का रंग कुछ इस प्रकार बदल गया है कि उससे पुष्पराग मणियों की माला की भ्रांति होती है।

बिहारी के उपर्युक्त दोहे में कोई दूती नायक से नायिका की प्रेमानुभूति का चित्र खींचकर नायक के मन की ललक को और भी अधिक बढ़ा देने का उपक्रम कर रही है। मतिराम के दोहे में नायिका को विशेष परिस्थिति में डालकर उसे छुई-मुई होती हुई दिखाने का अभिप्राय उसके प्रति नायक के आकर्षण को और भी तीव्र बना देना है। बेनी प्रबीन का वर्ण-परिवर्तन द्वारा नायिका के सौन्दर्य अंकन का प्रयास उससे भिन्न नहीं है। सभी वर्ण-योजनाओं द्वारा नायिकाओं के ऐश्वर्य-दीप्त, आकर्षक और उन्मादक सौन्दर्य को प्रस्तुत किया गया है जो एक ओर साहित्यिक परंपरा से अनुमोदित था तो दूसरी ओर तत्कालीन सामंतीय परंपरा से समर्थित।

**उपलक्षित चित्र-योजना**

पश्चिमी साहित्यालोचन में उपलक्षित चित्र-योजना (Imagery) की काफी चर्चा हुई है। इसके सम्बन्ध में कई सैद्धांतिक ग्रंथों का प्रणयन किया गया तथा कतिपय कवि एवं नाटककारों की व्यावहारिक आलोचना भी की गई। कवियों की अनुभूत्यात्मक गहराई की परख के लिए उपलक्षित चित्र-योजना का विश्लेषण आवश्यक है।

उपलक्षित चित्र योजना आलंकारिक (Figurative) होती है। पश्चिमी विचारकों ने इसके लिए रूपक को अत्यधिक महत्त्व दिया है।[1] रूपक के रूप

---

१—Metaphors belong to effects of style for which the common language of literary criticism reserves the term 'imagery' and they are of an importance for poetry that one can scarcely overestimate.

—Ronald Peacock, The Art of Drama; P. P. 44.

में लाए गए अप्रस्तुतों में जो स्पष्टता, संक्षिप्तता और अर्थ-विस्तार दिखाई पड़ता है वह अन्य प्रकार से लाए गए अप्रस्तुतों में नहीं। जहाँ तक काव्य-गत सौन्दर्य का प्रश्न है अन्य अलंकारों के माध्यम से लाए गए अप्रस्तुत भी अपनी जगह विशेष उपयोगिता रखते हैं।[1] पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर रूपक की जो निजी विशेषताएँ हैं उनकी ओर से आँखें नहीं मूंदी जा सकतीं। उपमा आदि अलंकारों में अर्थ की एक स्पष्ट सीमा होती है पर रूपक में अर्थ की सीमा विस्तृत होने के साथ-साथ कभी-कभी प्रतीकात्मक भी हो उठती है। उपमा और रूपक के एक-एक उदाहरण लीजिए—'उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है (उपमा)' 'वह शेर है (रूपक)' उपमा में मुख के लिए ले आया गया चन्द्रमा अप्रस्तुत है। इस अप्रस्तुत द्वारा मात्र सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो पाती है। किंतु रूपक के उदाहरण में शेर की वीरता, निर्भीकता भयंकरता, तेजस्विता आदि अनेक गुणों का समन्वय देखा जा सकता है। उपमा में जो अप्रस्तुत ले आया जाता है उसका धर्म सीमित, और रूपकगत-अप्रस्तुत का व्यापक होता है। इस अप्रस्तुत के अनेकानेक धर्मों से हम पूर्व-परिचित रहते हैं, इसके नामोच्चारण मात्र से स्मृति में बहुत से संवेदना-संवलित अर्थ स्वयं प्रकाशित हो उठते है।

रूपक मुख्यत: दो कार्य करता है। एक तो वह पाठकों की ऐंद्रियानुभूति (sensational exprience) को जागृत करता है, दूसरे एक विचार को रूपायित करता है। 'रूपकात्मक अभिव्यक्ति का महत्त्वपूर्ण कार्य है अरूपात्मक भावों और विचारों को ऐन्द्रियानुभूति की सीमा में आने वाले अप्रस्तुतों से संबद्ध करना। इसके साथ ही वह प्रतीक की सीमा का भी स्पर्श करता रहता है। अन्य अलंकारों की अपेक्षा यह जटिलतर सम्बन्धों का प्रकाशक है।

काव्यात्मक संमूर्तन के लिए आवश्यक है कि इसके लिए जो अप्रस्तुत ग्रहण किए जायँ उनका चुनाव परिचित जगत से हो तथा वे पाठकों की संवेदनाओं को आन्दोलित करने में पूर्ण समर्थ हों। तीसरे ये एक उपचयात्मक (proportional) अर्थ संकेतित करते हों। पर उसकी पूर्ण अर्थवत्ता इनमें से किसी एक में न होकर उनके सम्बन्धों में निहित है।

किन्तु यहाँ पर वह स्पष्ट करना शेष रह गया कि रूपकालंकार तथा काव्यात्मक संमूर्तन में क्या स्पष्ट अन्तर है। वास्तव में संमूर्तन रूपक मात्र न

---

१—डा० बच्चन सिंह, रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना

होकर रूपकात्मक ( Metaphorical ) होता है। यह अंशों में प्रतीकवत् तथा अंशों में संवेदनात्मक होता है। इसमें पदार्थ विशेष का उतना महत्त्व नहीं है जितना उसके द्वारा आविर्भूत संवेदना का।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त अप्रस्तुतों को ही संमूर्तनक्षम क्यों माना जाय ? उपमा-उत्प्रेक्षागत अप्रस्तुत भी तो संमूर्तन प्रस्तुत करते हैं, और वे पर्याप्त रस-क्षम भी होते हैं। यह कहना कि प्रतीकवत् प्रयुक्त अप्रस्तुत सर्वाधिक काव्योपम होते हैं बहुत कुछ ठीक है किन्तु यह कि वे ही सच्चे काव्य की कसौटी हैं सर्वथा भ्रामक है। विशेष स्थिति (situation) और परिस्थिति ( circumstance ) जन्य काव्यात्मक स्थल, बिना किसी अप्रस्तुत-विधान के भी रसोद्बोधन करते हैं। तब प्रतीकवत् व्यवहृत अप्रस्तुत (इमेजरी) को उत्कृष्ट काव्य की कसौटी क्यों स्वीकार किया जाय ? योरोप में जिस संमूर्तन, बिंब या इमेजरी पर बहुत जोर दिया गया है उसका सन्निवेश हमारे यहाँ के सादृश्य-मूलक अलंकारों में कर लिया जा सकता है। इस लिए उपलक्षित चित्र-योजना का पृथक् विचार न करके उसे अलंकारों के भीतर गृहीत कर लेना औचित्य-पूर्ण मालूम पड़ता है।

**अलंकार-योजना**

संस्कृत-आलंकारिकों ने रस को काव्य की आत्मा माना है, काव्य के शेष उपकरण इसी के पोषक हैं। दण्डी ने अलंकार को काव्य का शोभाकरधर्म माना है। 'अलंकार' का शब्दार्थ भी यही संकेतित करता है। वामन का कथन 'सौन्दर्यमलंकारः' विशेष महत्त्व रखता है। अलंकार ही सौन्दर्य है का तात्पर्य वही है जो पश्चिम के सौन्दर्य शास्त्रियों का। वे भावानुभूति और अभिव्यक्ति में भेद नहीं करते। वामन का अलंकार रूप का बोधक है और सौन्दर्य भावानुभूति का।

ऐसी स्थिति में अलंकार-योजना के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। 'रससमाहितचेता' कवि जब अपने मन को रस-केन्द्रित करता है तो अलंकारों का औचित्यपूर्ण विन्यास अपने आप हो जाता है। आनन्दवर्धन ने कहा है—'तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्य विशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः ?' रूपकादि अलंकार रस के प्रकाशक हैं। यह तभी सम्भव है जब वे अंगीभूत ( structural ) रूप में प्रयुक्त हों। सम्भवतः इसी तथ्य को लक्ष्य करते हुए अभिनव ने उन्हें 'रसाक्षिप्त' और 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' कहा है।

कवि अपने भावों और विचारों को पाठकों तक प्रेषणीय बनाता है। भावों और विचारों को पाठकों तक तद्वत प्रेषित करने के लिए उसे अपनी वाणी को असामान्य बनाना पड़ता है अथवा एक विशेष स्थिति में उसकी वाणी वक्रतापूर्ण हो जाती है। ऐसा होने पर कवि के भाव और अनुभूति दोनों रागात्मक होकर पाठकों या श्रोताओं के हृदय में भी समान भाव या अनुभूति जागृत करते हैं। अलंकार इस क्रिया में सहायक सिद्ध होता है। रेमंड का विचार भी बहुत कुछ इससे मिलता-जुलता है—'The one truth underlying all the rules laid down for the employment of figures is that nothing is gained by any use of those which do not add to the effect of the thought to which they give expression...'

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अलंकार वस्तु और भाव को स्पष्ट और रागबोधात्मक बनाता है। जहाँ उसकी प्रधानता हो जाती है वहाँ उसकी रागबोधात्मकता समाप्त हो जाती है, क्योंकि वह अंगभूत (structural) नहीं हो पाता। अलंकारों को सामान्यतः तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—सादृश्यमूलक, विरोधमूलक तथा साहचर्य (association) मूलक। इनमें सादृश्यमूलक अलंकार ही बिंब या संमूर्तन की स्थापना कर सकते हैं। शेष अलंकार मुख्यतः चमत्कारविधायक होते हैं।

**सादृश्यमूलक**

सादृश्य मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं—रूप-सादृश्य, धर्म-सादृश्य और प्रभाव-सादृश्य। कहीं-कहीं इन्हें अलग-अलग रूप में देखा जाता है तो कहीं-कहीं समन्वित रूप में। रूप बाह्याकार है तो धर्म और प्रभाव अन्तःकरण की विशेषताएँ हैं। केवल रूपाकार को अंकित करने के लिए प्रयुक्त अप्रस्तुत संवेदनात्मक नहीं होते। जैसे, भिड़ के समान कमर। श्रेष्ठ अप्रस्तुत वे ही हैं जो प्रस्तुत के रूप, धर्म तथा प्रभाव से सादृश्य रखते हों।

वस्तुतः प्रस्तुत को रूपायित करने के लिए जिन अप्रस्तुतों का प्रयोग किया जाता है वे हूबहू प्रस्तुत के समान नहीं होते। वे किन्हीं अंशों में प्रस्तुत के सदृश होते हैं पर अपनी बिंबविधायिनी शक्ति के द्वारा उसे चारुता प्रदान करते हैं। उपमागत अप्रस्तुत रूपकगत अप्रस्तुत की अपेक्षा कम संवेगात्मक होता है। उत्प्रेक्षा में चमत्कार-वादिता अधिक होती है। एक ही अप्रस्तुत का

प्रयोग तीनों अलंकारों में किया जा सकता है पर उसकी अर्थगत सघनता में अन्तर आ जाता है।

पहले उपमागत कुछ अप्रस्तुतों के उदाहरण देखिए—

( १ ) लहलहाति तन तरुनई लचि **लगि लौं** लफि जाय।

( २ ) **काँटे सी** कसकति हियें वहै कटीली भौंह।

( ३ ) वाही तन ठहराति यह **किबलनुमा लौं** दीठि।

( ४ ) सटपटाति सी ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
**पावक झर सी** झमकि कै गई झरोखे झाँकि॥

( ५ ) नीचीयै नीची निपट डीठि **कुही लौं** दौरि।

( ६ ) **कौहर सी** एड़ीन की लाली निरखि सुभाय।

( ७ ) सहज सेत पचतोरिया पहिरें अति छबि होति।
**जल चादर के दीप** लौं जगमगाति तन जोति॥

( ८ ) जाके तन की छाँह ढिग **जोन्ह छाँह** सी होति।

( ९ ) हरि-छबि जल जब ते परे तबतें छिन बिछुरैं न।
भरत, ढरत, बूड़त, तिरत **रहँट-घरी** लौं नैन॥

(१०) बाल छबीली तियनु में बैठी आपु छिपाय।
अरगट हीं **फानूस सी** परगट परै लखाय॥

(११) निस दिन **डाढ़ी सी** फिरति बाढ़ी गाढ़ी पीर।

(१२) नारि सलोनी साँवरी **नागिन** लौं डसि जाय।

(१३) नेह दबावत **नींद** लौं निरखि **निसा सी** नारि।

उपर्युक्त सभी अप्रस्तुतों में से अधिकाश नए हैं। इनके नएपन के कारण कोई चाहे तो इन्हे ताज़ा कर सकता है। पर ताज़गी अन्तःकरण की विशेषता है वैचित्र्य की नही। इधर-उधर की जुटाई हुई अद्‌भुत वस्तुओं में एक अजनवी पन ( strangeness ) पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि वे ताज़गी पूर्ण भी हों। यहाँ पर कवि की दृष्टि अजनवीपन पर ही अधिक टिकी हुई है।

तारुण्यभार से दूना होती हुई नायिका और लग्गी के लफ जाने में जो धर्म-साम्य है वह स्थूल ही कहा जायगा। फिर भी इससे एक ऐन्द्रिय

बिंब उपस्थापित हो जाता है। दूसरे उदाहरण का अप्रस्तुत कोई संवेदनात्मक बिंब नहीं निर्मित कर पाता। ३, ५, ११, १२, १३ के अप्रस्तुत रागबोधात्मक क्षमता से सर्वथा रिक्त हैं। 'किबलनुमा' और 'कुही' आँख के जिस पक्ष का सादृश्य प्रस्तुत करते हैं वह वर्णनात्मक है, काव्यात्मक नहीं। गाने-बजाने वाला व्यवसायी (ढाढ़ी) जो इतस्ततः घूमता फिरता है वह गाढ़ी पीर में व्याकुल नायिका का ऐन्द्रिय चित्र कैसे उभाड़ सकता है। अप्रस्तुत केवल उसका घूमना रूपापित कर पाता है, गाढ़ी पीर को चित्रित करने की क्षमता उसमें कहाँ! यहाँ पर तो प्रस्तुत और अप्रस्तुत का कोई मानसिक सम्बन्ध स्थापन भी नहीं हो पाता। एक ही दोहे में कई अलंकारों के निर्वाह की स्पृहा अप्रस्तुतों की बिंब-विधायिनी शक्ति को चौपट कर देती है। कहाँ नींद और कहाँ स्नेह, कहाँ निशा कहाँ नारी—इनमें तो कोई सादृश्य ही नहीं है।

चौथे, सातवें और नवें उदाहरणों के अप्रस्तुत अपनी रागबोधात्मक क्षमता के कारण काव्योपम बिंब निर्मित करते है। झरोखे से नायिका का झाँक कर झट चला जाना अग्नि की लपट सा मालूम पड़ा। इस अप्रस्तुत में रूप, धर्म और प्रभाव तीनों का साम्य है। इस लिए यह अत्यधिक उत्कृष्ट चित्र बन पड़ा है। पीताभ नायिका के रूप लावण्य की एक झलक को उभाड़ने में 'पावक-झर' आत्यंतिक रूप से समर्थ है। आग की लपट का धर्म है पार्श्ववर्ती व्यक्ति को परितप्त कर देना। नायिका का झाँकना नायक कों विरह-व्यथा से पूर्ण बना देता है। यह अप्रस्तुत नायिका की रूप-चेतना को पाठकों के मन में अच्छी तरह उभाड़ ही नही देता बल्कि उन्हे भी रागानुभूत कर देता है। पीतवर्णी नायिका और पावक-झर का साम्य प्रस्तुत करते समय कवि 'रससमाहितचेत' कहा जा सकता है। जल-चादर का दीप भी श्वेत साड़ी के भीतर से झाँकती हुई नायिका की चंपई अंग-ज्योति की रागात्मक चेतना अच्छी तरह चित्रित करता है। 'रहँट घड़ी' अपने पूर्ण संदर्भ में समर्थ अप्रस्तुत है।

रूपकगत अप्रस्तुतों के चुनाव और संदर्भण में बिहारी सब से अधिक असमर्थ सिद्ध हुए हैं:—

**(१) नव नागरि तन मुलक लहि जोबन आमिल जौर।**
**घटि बढ़ि ते बढ़ि घटि रकम, करी और की और॥**

**(२) कौड़ा आँसू बूँद, करि साँकर बरुनी सजल।**
**कीने बदन निमूद, दृग मलंग डारे रहत॥**

( ३ ) वेई गढ़ि गाढ़ैं परी, उपट्यो हार हियैं न ।
आन्यो मोरि मतंग मनु, मारि गुरेरन मैन ॥

( ४ ) मंगल बिंदु सुरंग मुख ससि केसर आड़ गुरु ।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥

ये समस्त उदाहरण पांडित्य-प्रदर्शन के द्योतक है । इनके अप्रस्तुत इतने अशक्त हैं कि उन पर टिप्पणी व्यर्थ है । इस अशक्तता की व्याख्या आगे की जायगी ।

उत्प्रेक्षागत अप्रस्तुत कवि-कल्पित होने के कारण अधिक चामत्कारिक होते हैं पर उनकी सिद्धता इसी में है कि वे बराबर राग बोधात्मक हों । यह अलंकार रीति-कवियों का बड़ा ही लाड़ला अलंकार रहा है क्योंकि इसके माध्यम से नायक-नायिका के रूपबोध की संभावना में उन्हें पर्याप्त छूट मिल जाती है । इसका अप्रस्तुत लोक-असिद्ध होता है । लोक-सिद्ध होने पर वह उपमा के अन्तर्गत आ जायगा । लोक-असिद्ध उपमान का चामत्कारिक होना स्वाभाविक है । पर केवल लोक-असिद्ध होने के कारण कोई अप्रस्तुत चमत्कारक हो जाय यह आवश्यक नही है । उलटे उसे पहेलीपरक हो जाने का खतरा बढ़ जाता है । पहले बिहारी की इस तरह की उत्प्रेक्षाएँ देखिए—

( १ ) भाल-लाल बेंदी-दए, छुटे बार छबि देत ।
गह्यौ राहु, अति आहु करि, मनु ससि सूर समेत ॥

( २ ) नीकौ लसत ललाट पर टीकौ जटित जराय ।
छबिहिं बढ़ावत रवि मनो ससि मंडल में आय ॥

( ३ ) तिय-मुख लखि हीरा-जरी, बेंदी बढ़ें बिनोद ।
सुत सनेह मानौ लियौ, बिधु पूरन बुध गोद ॥

पहले दोहे में राहु का सूर्य और चन्द्रमा को एक साथ ही ग्रस लेना लोक में असिद्ध है । पर इससे नायिका के भाल, बिंदी और उन्मुक्त केशराशि का कोई बिंब नहीं उपस्थित हो पाता । यही बात दूसरे और तीसरे दोहे की उत्प्रेक्षाओं के संबंध में भी कही जा सकती है । ज्योतिष के शास्त्रीय अप्रस्तुत सामान्य जीवन से असंपृक्त होने के कारण पहेली बन जाते हैं ।

किंतु बिहारी की बहुत सी उत्प्रेक्षाएँ ऐसी भी हैं जो काव्य के अत्यन्त मनोरम चित्र भी प्रस्तुत करती हैं । कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

( १ ) पग पग मग अगमन परत चरन अरुन दुति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया से फूलि॥

( २ ) जरी कोर गोरें बदन बढ़ी खरी छवि देखु।
लसति मनौ बिजुरी किए सारद ससि परिवेखु॥

( ३ ) सोहत ओढ़े प्रीत पट श्याम सलोने गात।
मनौ नील मणि सैल पर, आतप परयौ प्रभात॥

दुपहरिया के फूल का फूलना लोक-सिद्ध है पर ठौर-ठौर पर उसका फूल उठना लोक-असिद्ध माना जा सकता है। यहाँ पर जो धर्म-साम्य प्रस्तुत किया गया है वह पाठकों की रागोत्तेजना में पर्याप्त सहायक सिद्ध होता है। बिजली के परिवेश से अभिमंडित शरद-चन्द्र लोक-सिद्ध नहीं है इसलिए यह उत्प्रेक्षागत अप्रस्तुत है। यह कवि-कल्पित अप्रस्तुत जरीदार साड़ी में शोभित नायिका की मुख-शोभा को इस ढंग से अंकित करता है कि उससे पाठकों की रूप-चेतना तीव्रतर हो उठती है।

इनके अतिरिक्त कवियों ने इव आदि लगाकर भी उत्प्रेक्षाएँ की हैं, जैसे—

चमचमात चंचल नयन मुख घूँघट पट झीन।
मानहु सुर सरिता विमल जल उछरत युग मीन॥

पर गंगा के विमल जल में युगमीन का उछलना लोक-सिद्ध है। इसलिए सही अर्थ में इसे उत्प्रेक्षा का विषय नहीं माना जा सकता। यों अपने आपमें भी यह अप्रस्तुत कोई खास संवेदनात्मक बिंब नहीं प्रस्तुत करता। कालिदास का एक बिंब देखिए जिसमें स्पंदित आँखों का अतिशय संवेदनात्मक रूप अंकित किया गया है—

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकै रंजनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शंके मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्री तुलामेष्यतीति॥

'हाय मित्र, जब वे बिखरे बालों से अवरुद्ध कटाक्षवाले, अनआँजे नयन ऊपर की ओर फड़केंगे, तो उस नीलकमल की मोहिनी शोभा धारण करेंगे जो चंचल मछलियों के ऊधम से चटुल हो उठता है। जब मैं मीन-क्षोभ से

चटुल बने कुवलय ( नीलकमल ) की शोभा धारण करनेवाले नयनों की कल्पना करता हूँ तो जी में अजब कचोट अनुभव करता हूँ।'[1]

इस अप्रस्तुत की बिंब-निर्माण-क्षमता इस बात पर निर्भर है कि वह कितनी गहरी संवेदना जागृत कर सका है। जब अप्रस्तुतों के मूल में गूढ़ संवेग ( Complex emotions ) रहते हैं तो वे चित्र-कल्पना को व्यापक और गहरा बना देते हैं।

इसके अन्तर्गत विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों की गणना की जाती है। विरोधाभास में विरोध वास्तविक न होकर आभास मात्र होता है। कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन विभावना है। विशेषोक्ति विभावना का उलटा होता है अर्थात् यहाँ कारण के वर्तमान होने पर भी कार्य नहीं हो पाता। असंगति कार्य-कारण-विरोधमूलक अलंकार है—इसमें कारण कहीं होता है और कार्य कहीं। अतिशयोक्ति भी मूलतः विरोधामूलक अलंकार ही है।

**विरोध मूलक**

अब 'सतसई' में प्रयुक्त कुछ उदाहरणों की परीक्षा कीजिए—

**( १ ) तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।**
**अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥**

**( २ ) लहि रति सुख लगियैं गरें लखी लजौहीं नीठि।**
**खुलत न मो मन बँधि रही बहै अधखुली दीठि॥**

**( ३ ) या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।**
**ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रंग, त्यौं त्यौं उज्जल होइ॥**
**( विरोधाभास )**

**( ४ ) रस सिंगार मंजन कियैं कंजन मंजन नैन।**
**अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन॥**

**( ५ ) अंग-अंग नग जगमगैं दीपसिखा सी देह।**
**दिया बढ़ाये हू रहै बढ़ो उजेरो गेह॥**

---

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, मेघदूत एक पुरानी कहानी, पृ० १५१-१५४ से उद्धृत।

( ६ ) सतर भौंह रूखे बचन करत कठिन मन नीठि।
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंही डीठि॥
( विभावना )

( ७ ) जदपि चवायनि चीकनी चलति चहूँ दिस सैन।
तऊ न छाँड़त दुहुन के हँसी रसीले नैन॥
( ८ ) निसि अँधियारी नीलपट पहिरि-चली पिय गेह।
कहौ दुराई क्यौं दुरै, दीप-सिखा सी देह॥
लाल तुम्हारे बिरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै बरसें नीरहूँ, झरहूँ मिटै न झार॥
( विशेषोक्ति )

( ९ ) दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिएँ, दई नई यह रीति॥
(१०) छिरके नाह नवोढ़ दृग कर-पिचकी जल जोर।
रोचन रँग लाली भई बिय तिय लोचन कोर॥
( असंगति )

(११) सुदुति दुराई दुरति नहिं प्रगट करति रति रूप।
छुटें पीक औरै उठी लाली अधर अनूप॥
( अतिशयोक्ति )

कहना न होगा कि उपरिउद्धृत उदाहरणों में से अधिकांश बहुत ही मार्मिक और भावपूर्ण हैं। वास्तव में यही बिहारी का प्रकृत क्षेत्र भी माना जा सकता है। इन अलंकारों का भी मुख्य उद्देश्य है भाव या रस का उपकारक होना। चमत्कारपूर्णता के साथ-साथ इनका 'रसाक्षिप्त' होना भी आवश्यक है। इनमें वैदग्ध्य उस सीमा तक नहीं पहुँच पाया है जहाँ संवेदनात्मकता से उसका साथ छूट जाता है। प्रत्येक अलंकार प्रत्येक संदर्भ में औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता। उपमा और रूपक के प्रयोग में बिहारी को प्रायः सफलता नहीं मिल पाई है किन्तु विरोधमूलक अलंकारों में उन्होंने पर्याप्त कुशलता का परिचय दिया है। बिहारी अपनी सजगता के लिए प्रसिद्ध हैं। यह सजगता शब्दों के प्रयोग, वाक्य तथा अलंकार-विन्यास में सर्वत्र दीख पड़ती है। उपमा और रूपक का सम्बन्ध संवेदना की जिस गहराई से है वह बिहारी में नहीं है। इसलिए चमत्कार के चक्कर में फँसे रहने के

कारण उनके प्रयोग में वे संवेदना से प्रायः असंपृक्त हो गए हैं। विरोध-मूलक अलंकारों में उनको अपना स्वाभाविक क्षेत्र मिल गया।

**अत्युक्ति-चमत्कार की चरम सीमा**

लोक-कल्पना की सीमा में न आने वाली जिन ऊहाओं का आधार बिहारी ने अपनी अत्युक्तियों में लिया है वे एकदम संवेदना-विरहित हैं। कहीं-कहीं तो वे एकदम उपहासास्पद हो जाती हैं। रीतिकाल के अनेक कवियों पर फारसी कविताओं का प्रभाव पड़ा है—उनकी अच्छाइयों और बुराइयों दोनों का। ये अत्युक्तियाँ उनके बुरे पक्ष 'मुबालग़ा' से आत्यंतिक रूप से प्रभावापन्न है।

उदाहरणार्थः—

**( १ ) सीरे जतननि सिसिर रितु सहि बिरहिनि तन ताप।**
**बसिबे कों ग्रीषम दिननु परो परोसिन पाप॥**
**( २ ) आड़े दै आले बसन जाड़े हू की राति।**
**साहस ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति॥**
**( ३ ) औंधाई सीसी सु लखि बिरह बरनि बिललात।**
**बिचहीं सूखि गुलाब गौ छीटौ छुई न गात॥**

**शब्दालंकार**

अर्थालंकारों की भाँति यदि शब्दालंकार रस पोषक होकर आते हैं तो उनकी उपयोगिता में कोई सन्देह नही है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'वस्तुतः शब्दालंकार और अर्थालङ्कार दोनों ही रस के उपयुक्त साधक भी बन सकतें है और बाधक भी हो सकते हैं। परन्तु जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है, वह एक प्रकार की असान्द्र-अनुभूतिजनक आवेग का कम्पन उत्पन्न करता है। न तो वह संगीत की अबाध गति उत्पन्न कर पाता है, न अर्थ-जगत से सम्पूर्ण रूप से विच्छेद ही कर पाता है। उसके शब्द बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध स्थापित करते रहते है और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। अर्थ-भार-हीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करतें हैं न संगीत का प्रवाह ही। वे दोनों के केवल घटिया प्रभाव ही उत्पन्न कर सकते हैं।'''रीतिकाल के कवियों में शब्दालंकार के प्रयोग बहुत हैं पर अधिकतर वे काव्य के घटिया प्रभाव को उत्पन्न करके रह जाते हैं। अर्थ की

बाह्यसत्ता से उनका जितना सम्बन्ध होता है उतना रमणीयता उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं होता[1]।'

शब्दालंकारों में मुख्यतः अनुप्रास, श्लेष और यमक के प्रयोग बहुत हुए हैं। रीतिकाल का कोई ऐसा कवि न मिलेगा जो अनुप्रासों के चमत्कार से घिरा हुआ न हो। कभी-कभी तो यह दो-दो तीन-तीन चरणों तक चलता रहता है। अनुप्रासों का अर्थ से कोई संबंध नहीं है। फिर भी रीति-कवियों को इनकी क्रीड़ा कुछ ऐसी रुचिकर प्रतीत हुई कि यह उनकी शैली का अंग बन गया। बिहारी के कुछ उदाहरण देखिए—

**सहित सनेह सकोच सुख स्वेद कंप मुसुकानि।**

× × × ×

**ढरकि ढार ढरि ढिग भई ढीठ ढिठाई आय।**

उनके अधिकांश दोहों में अनुप्रास का चमत्कार दिखाई देगा। पर इस काल के अन्य कवियों की तुलना में बिहारी में संयम और सन्तुलन अधिक दिखाई देता है।

श्लेष में चमत्कार के साथ ही अर्थभार भी उचित मात्रा में होता है। स्वाभावोक्ति को छोड़कर यह अन्य अलंकारों का सहायक होता है—श्लेषः पुष्णाति सर्वासु प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ( दण्डी )। अभिनव गुप्त का कहना है कि यह उपमा-गर्भ अलंकारों का सहायक सिद्ध होता है। वाण के मतानुसार (श्लेषोऽक्लिष्टः) श्लेष को अक्लिष्ट होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि संयम पूर्ण ढंग से प्रयुक्त होने पर यह अलंकारों का सौन्दर्य-विधायक होता है। हाँ, यदि उससे नाना अर्थ निकालने की चेष्टा उसको विकृत कर देगी। कीथके मतानुसार आलंकारिकों और नानार्थवादियों ने इनका अत्यधिक दुरुपयोग किया है। डा० राघवन् ने परवर्ती काल के पंडितों के सम्बन्ध में बताया है कि श्लिष्ट शब्द या पदों के बिना उनका लिखना असम्भव था। कभी उनके द्वारा हम दो विचारों में सादृश्य भर स्थापित कर पाते हैं और कभी कवियों की मौलिकता पर संतुष्ट हो जाते हैं और भाषा पर उनके अधिकार की दाद देने लगते हैं।[2]

---

१—हिन्दी साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० ३३१

२—'It became impossible for a latter-day scholar to write except in double entendre and if we take a work like Vedanta-

बिहारी ने जहाँ पर श्लेष का प्रयोग किसी उपमा-गर्भ अलंकार को पुष्ट करने के लिए किया है वहां पर तो यह उसका उपकारक सिद्ध हुआ है अन्यथा नहीं। कुछ उदाहरण देखिए—

**( १ ) जद्यपि सुन्दर सुघर पुनि सगुनो दीपक देह।**
**तऊ प्रकास करै तितो भरियै जितो सनेह॥**

**( २ ) आवत जात न जानियत, तेजहि तजि सियरान।**
**घरहिं-जँवाई लौं घट्यौ, खरो पूस-दिन-मान॥**

पहले उदाहरण में श्लेष से पुष्ट रूपक है, दूसरे में पूर्णोपमा। पहले में 'सगुन' और 'सनेह' चमत्कारक होने के साथ-साथ रूपक के निर्वाह में पूर्णयोग देते हैं। दूसरे दोहे के 'मान' को भी पूर्णोपमा का उपकारक कहा जायगा। अब चत्मकार खड़ा करने वाले कुछ उदाहरण देखिए—

**( १ ) अजौं तरयौना ही रह्यौ स्रुति सेवक एक अंग।**
**नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग॥**

**( २ ) कुढँग कोप तजि रँगरली करति जुवति जग जोय।**
**पावस बात न गूढ़ यह बूढ़न हू रँग होय॥**

पहले उदाहरण के श्लेष पर तो बिहारी की चामत्कारिकता की दाद दी जा सकती है। दूसरे उदाहरण में रंग का अशक्त सादृश्य प्रस्तुत किया गया है।

यमक प्रायः प्रयत्न-साध्य होने के कारण कवि को रस-समाहित नहीं रहने देता। शृंगार रस में तो यह और भी अनुपयुक्त ठहरता है। पर बिहारी ने इस अलंकार का भी प्रचुर प्रयोग किया है।

---

desikas Subhasitanivi, we can rarely find there a verse which has not got two meanings. Sometimes we are able to set up similarity between both the ideas and sometimes we are left to satisfy ourselves with the mere pleasure of originality and admire the author's command over the language'

—Dr. Raghavan, Some Concepts of Alankaras, PP. 77

रस कविता का प्राण है और अलंकार उसका पोषक। अलंकार का प्रयोजन भावानुभूति को सान्द्र बनाना है, यही उसके कार्य की सीमा है। शब्दालंकार हो चाहे अर्थालंकार—दोनों साध्य हैं। काव्य-प्रकिया में वे सहज ही योग देते हैं, इसीलिए उन्हें 'रसाक्षिप्त' और 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' कहा गया है। कवियों के रसोपासक होने का कारण बताते हुए महिमभट्ट ने कहा है—

**विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।**
**तदर्थमेव कवयोऽलंकारान्पर्युपासते॥**

---

६

# व्यंजना और सतसई

शब्द-शक्तियों में व्यंजना का बहुत ही अधिक महत्त्व हैं, क्योंकि ध्वनि की मूलाधार यही शक्ति है। पहले पहल रस की प्रतिष्ठा दृश्यकाव्य में हुई और रस-सिद्धान्त वहीं तक सीमित रहा। नाटक का मुख्य उद्देश्य विभावानुभाव आदि के द्वारा शृंगार-करुण रसादि की प्रतीति कराना था। इसके लिए आवश्यक था कि नाटक विस्तृति-सापेक्ष हो। प्रबंध-समन्वित श्रव्य-काव्य में भी विभावानुभावादि के द्वारा रस-पद्धति शक्य है, पर लघु-काय मुक्तकों में रस के सभी अवयवों का सन्निवेश सम्भव नहीं है। अतएव उन्हें काव्य के अन्तर्गत नहीं परिगणित किया जा सकता। ध्वनि-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त का ही विस्तार है। श्रव्य काव्य में इसी सिद्धान्त के द्वारा रस की प्रतिष्ठा हुई। वस्तुतः ध्वन्यालोक के पूर्व रस और काव्य का समुचित संबन्ध-स्थापन नहीं हो पाया था। लोचनकार (अभिनवगुप्त) ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। रस ध्वनित होता है, इस बात को स्वीकार कर लेने पर चमत्कार-क्षम मुक्तकों में भी रसाभिव्यक्ति की स्थिति मान ली गई। तभी तो आनन्दवर्धन ने घोषणा की कि 'अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबंध शतायते।'

ध्वनि का मुख्य प्रयोजन है—प्रतीयमान अर्थ-प्रतीति; और यह व्यंजना-व्यापार द्वारा ही सम्भव है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि

व्यंग्य अर्थ ही प्रतीयमान अर्थ होता है। व्यंजना और व्यंग्य में वही सम्बन्ध है जो कारण और कार्य में। जहाँ ध्वनि होगी वहाँ व्यंग्यत्व होगा। पर प्रत्येक व्यंग्यार्थ को ध्वनि की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ध्वनि होने के लिए व्यंग्यार्थ को उत्कृष्ट और रमणीय होना चाहिए। इसीलिए शास्त्रकारों ने ध्वनि की परिभाषा निश्चित करते हुए स्पष्ट कहा है कि जहां पर शब्द और अर्थ स्वयं को तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराते है वहां ध्वनि होती है। जहाँ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक रमणीय और चमत्कारी होता है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। यहां पर हम आभिधावादियों के मतों का उल्लेख नहीं करना चाहते जो व्यंग्य अर्थ के विश्वासी नहीं हैं और न तो इस स्थल पर उन वितर्कों के उल्लेख की ही अवश्यकता है जो व्यंजना के पक्ष में किए गए हैं। इसी प्रकार लक्षणा में ही व्यंजना को अन्तर्भुक्त मानने वाले आचार्यों के विचारों तथा उनके खण्डनार्थ प्रस्तुत किए मतों के विवेचन के लिए भी यह स्थल उपयुक्त नहीं है। अन्ततोगत्वा व्यंजना शक्ति की प्रतिष्ठा होकर ही रही।

बिहारी के दोहों का आलोड़न हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वे ध्वनिवादी थे। इसलिए उनके लिए स्वाभाविक था कि वे व्यंजना की सहायता लेते। उनका समुचित मूल्यांकन करने के लिए, उनकी कलात्मक विवेचना के सिलसिले में व्यंजना का विश्लेषण अत्यावश्यक है।

आचार्यों के मतानुसार प्रमाणान्तर से अनुपलब्ध परंतु शब्द प्रमाण से उपलब्ध अर्थ के प्रति किया गया व्यापार व्यंजना है जो अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्ति से प्राप्त न हुआ हो। इससे स्पष्ट है कि व्यंजना शब्द का व्यापार है, यह प्रमाणान्तर से अप्राप्त है तथा तात्पर्यवृत्ति से अनुपलब्ध है। प्रमाणान्तर का अर्थ है शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रमाण जो संख्या में सात हैं—[प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य और सम्भव।]

यहां पर एक प्रश्न यह उठता है कि जब व्यंजना शब्द का व्यापार है तो व्यंजना के दो भेद—शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना—क्यों किए जाते हैं? क्या यह 'वदतो व्याघात' नहीं है? इसका उत्तर देते हुए मम्मट ने लिखा हैं—

**शब्दप्रमाणवेद्योर्थो व्यनक्त्यन्यर्थान्तरं यतः।**
**अर्थस्य व्यंजकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता॥**

अर्थात् जहां शब्दप्रमाण-संवेद्य अर्थ पुनः किसी अर्थ की अभिव्यक्ति करे वहां शब्द सहकारी है और अर्थ व्यंजक है। अतः जहां शब्द व्यंजक होगा वहाँ शाब्दी व्यंजना होगी तथा जहाँ अर्थ व्यंजक होगा ( शब्द मात्र सहायक होगा। शब्द का सहायक होना आवश्यक है क्योंकि शब्द के आधार से हीन अर्थ की कोई सत्ता नहीं है ) वहाँ आर्थी व्यंजना होगी।

**शाब्दी व्यंजना अभिधा मूला**

शाब्दी व्यंजना नानार्थक शब्दों के प्रयोग से मानी जाती है। किन्तु श्लेषालंकार में भी तो नानार्थक शब्दों का प्रयोग देखा जाता हैं। तब दोनों में भेद क्या है ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि श्लेषालंकार से उद्भूत सभी अर्थ वाच्य होते हैं और शाब्दी व्यंजना से अनेकार्थक शब्दों से उपलब्ध अर्थों में एक अर्थ व्यंग्य भी होता है। यहाँ एक बात और भी ध्यान देने की है। श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग श्लेषालंकार में भी होता है और शाब्दी व्यंजना में भी। तब सवाल यह उठता है कि एक जगह श्लिष्ट शब्दों द्वारा प्राप्त सभी अर्थ वाच्य होते हैं और दूसरी जगह उन्हीं शब्दों ( श्लिष्ट शब्दों ) द्वारा प्राप्त अनेक अर्थों में एक अर्थ व्यंग्य कैसे होता है ? इसके समाधान में यह कहा जाता हैं कि श्लेषालंकार द्वारा प्राप्त सभी अर्थ या तो प्राकरणिक होते हैं या अप्राकरणिक। परंतु शाब्दी व्यंजना द्वारा प्राप्त अर्थों मे कुछ प्राकरणिक होंगे और कुछ अप्राकरणिक। आचार्यो का कहना है कि प्रकरण-ज्ञान के कारण अभिधा और अर्थ देने में असमर्थ हो जाती है, इसके बाद जिस अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है वह व्यंजना-व्यापार द्वारा ही संभव है। संक्षेप में श्लेषालंकार और शाब्दी व्यंजना का भेद इसमें निहित है कि पहले में दोनों अर्थ या तो प्राकरणिक होंगे या अप्राकरणिक पर दूसरे में एक अर्थ प्राकरणिक होगा तो दूसरा अप्राकरणिक। इसके स्पष्टीकरण के लिए बिहारी सतसई के ही दो उदाहरण लीजिए—

**( १ ) अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक-अंग।**
**नाक-बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतन कै संग॥**
**( श्लेषालंकार )**

**( २ ) चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।**
**को घटि; ए वृष भानुजा, वे हलधर के बीर॥**
**( शाब्दी व्यंजना )**

पहले उदाहरण के दोनों अर्थ प्राकरणिक है और दूसरे उदाहरण का एक अर्थ प्राकरणिक है दूसरा अप्राकरणिक। श्लेषालंकार में जहाँ कोशगत चमत्कार है वहाँ शाब्दी व्यंजनाओं में व्यंग्य अर्थ के कारण चारुत्व अधिक आ गया है।

इस उदाहरण में केवल अप्राकरणिक अर्थ ही व्यंग्य नहीं है बल्कि दोनों अर्थों में एकसूत्रता स्थापित करनेवाला 'उपमालंकार' भी व्यंग्य है। यदि दोनों अर्थ सर्वथा असंबद्ध होते तो कवि की प्रतिभा असिद्ध मानी जाती। संबंधस्थापनार्थ जिस उपमा का आक्षेप यहाँ करना पड़ रहा है उससे दोनों वाक्यार्थों में उपमानोपमेयभाव स्थापित होगा। उपमानोपमेयभाव के कारण जिस विनोद की सृष्टि उक्त दोहे में की गई है वह रमणीयार्थप्रतिपादक हो गया है।

**लक्षणामूला**

इस व्यंजना का संबंध प्रयोजनवती लक्षणा से है। इसमें प्रयोजन या फल की प्रतीति व्यंजना द्वारा मानी जाती है। लक्षक शब्द के प्रयोग में वक्ता का कोई-न-कोई प्रयोजन निहित रहता है। यह प्रयोजन सर्वदा व्यंग्य होता है। इस व्यंग्यार्थ की स्पष्टता-अस्पष्टता के आधार पर इसके दो भेद किए गए हैं—अगूढ़ व्यंग्या और गूढ़ व्यंग्या।

अगूढ़ व्यंग्या में व्यंग्य स्पष्ट होता है। अतः गूढ़ व्यंग्या की अपेक्षा इसका काव्यात्मक स्तर नीचा होता है। कुछ उदाहरण लीजिए—

**( १ ) फिरत जु अटकत कटनि-बिनु, रसिक, सु रस न, खियाल।**

**( २ ) सदन सदन के फिरन की सदन छुट्टे, हरिराइ।**

**( ३ ) प्रान प्रिया हिय मैं बसै, नख-रेखा-ससि भाल।**
**भलौ दिखायौ आइ यह हरि-हर-रूप रसाल॥**

उपर्युक्त दोनों उदाहरण में विपरीत लक्षणा से रसिक का अर्थ अरसिक और 'हरिराय' का अर्थ अप्रतिष्ठा सूचक है। रसिक का लक्ष्यार्थ अरसिक तथा इसका 'प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ रसिकता-लंपटता का आतिशय्य है।'

**गूढ़ व्यंग्या**

अपेक्षा कृत अस्पष्ट होने के कारण गूढ़ व्यंग्या अधिक व्यंजक होती है—

**( १ ) लहलहाति तन तरुनई लगि लौं लफि जाइ॥**

**( २ ) होमति सुखु करि कामना तुमहिं मिलन की लाल।**

लहलहाना तारुण्य का धर्म नहीं है बल्कि हरे-भरे खेतों और हरी-भरी क्यारियों का धर्म है। मुख्यार्थ बाध से इसका लक्ष्यार्थ हुआ नयनाभिराम भरा-पुरा यौवन और प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ हुआ यौवन की संपूर्ण विशेषताओं की पराकाष्ठा। दूसरे उदाहरण में 'होमति' कष्टातिशय का व्यंजक है।

**आर्थी व्यंजना**

आर्थी व्यंजना में व्यंजना अर्थ का व्यापार है। कुछ विद्वानों के मतानुसार व्यंजना सर्वदा अर्थ का व्यापार होती है शब्द का नहीं, पर ध्वनिवादियों की दृष्टि से यह असंगत है। आर्थी व्यंजना में अर्थ व्यंग्यार्थ का साधन है। यह अर्थ जिससे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वाच्य भी हो सकता है, लक्ष्य तथा व्यंग्य भी। दूसरे शब्दो में यह भी कहा जा सकता है कि वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, और व्यंग्यार्थ तीनों अर्थों से व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। इसके अनुसार आर्थी व्यंजना के तीन भेद किए गए हैं—वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा और व्यंग्यसंभवा। इनके बहुत से उदाहरण सतसई में भरे पड़े हैं—

**वाच्य संभवा—**

**( १ ) तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।**
**अन बूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥**

**( २ ) घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि-पुंज।**
**जमुना-तीर तमाल - तरु - मिलित मालती - कुंज॥**

प्रथम दोहे में वाच्यार्थ परस्पर विरोधी बातें व्यक्त करता है। इसका व्यंग्यार्थ होगा कि तंत्रीनाद आदि में आकंठ मग्न होने पर ही पूर्ण रसास्वादन होता है। दूसरे उदाहरण में व्यंग्य है नायिका के स्वैर-बिहार का संकेत।

**लक्ष्यसंभवा**

**कत सकुचत, निधरक फिरौ, रतियौ खोरि तुम्हैं न।**
**कहा करौ जौ जाइ ए लगै लगौहैं नैन॥**

लक्ष्यसंभवा आर्थीव्यंजना में तीन अर्थों की प्रतीति होती है। लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना में लक्षक शब्दार्थ व्यंग्य होता है पर लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना में लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस उदाहरण में वाच्यार्थ है 'संकुचित क्यों होते हो, निधड़क फिरा करो, तुम्हें रत्ती भर दोष नहीं है। यदि ये लगौहें नयन कहीं लग जाँय तो तुम क्या करो।' लक्ष्यार्थ यह है—तुम स्वयं दोषी हो। न तो तुम्हें संकोच है और न डर। तुम न

जाओ तो क्या तुम्हारी आँखें तुम्ह घसीट ले जाँय। इस लक्ष्यार्थ का व्यंग्यार्थ है कि तुम बहुत बड़े निर्लज्ज हो, बेहया हो, यदि तुम चाहो तो अपने स्वभाव को बदल सकते हो।

**व्यंग्यसंभवा**

**सनु सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।**
**हरी हरी अरहरि अजैं धरि धरहरि जिय नारि॥**

इसमें अरहर की सघनता व्यंग्य है और उससे व्यंग्यार्थ निकलता है बहुत उपयुक्त सहेटस्थल।

**व्यंग्यार्थ-बोध के सहायक**

वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य अर्थों में व्यंग्यार्थ-बोध की क्षमता वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य के सान्निध्य, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा के वैशिष्टच से प्रादुर्भत होती है। पर व्यंग्यार्थ की झलक उसी को मिल सकती है जो प्रतिभासंपन्न हो।

**वक्तृ वैशिष्ट्य**

इसमें वक्ता के स्वभाव आदि की विशिष्टता जान लेने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। मुख्यार्थ वक्तृ वैशिष्टच के संदर्भ में ठीक-ठीक नहीं बैठ पाता। ऐसी स्थिति में उससे वक्ता की विशिष्टता के कारण व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है—

**लटकि लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकट की छाँह।**
**चटक भरयौ नटु मिलि गयौ अटक भटक-बट माँह॥**

इस दोहे में वक्तृ-वैशिष्टच के कारण उसकी प्रेम-क्रीड़ा व्यंग्य है।

**वाच्य-वैशिष्ट्य**

वाच्य-वैशिष्ट्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीति का मुख्य साधन वाच्यार्थ है। इसमें वाच्य साधन है और व्यंग्य साध्य—

**घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलिपुंज।**
**जमुना तीर तमाल तरु मिलत मालती कुंज॥**

इसके वाच्य-वैशिष्ट्य से ( इसमें देश और काल-वैशिष्ट्य भी है। 'जमुनातीर' देश-वैशिष्ट्य है और 'घाम घरीक निवारिये' में काल-वैशिष्ट्य है ) नायिका की रति-क्रीडा की अभिलाषा व्यंग्य है।

व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाले साधनों में चेष्टा का विशेष महत्त्व है। अभिनय के प्रकरण में इन चेष्टाओं या भंगिमाओं का बहुत महत्त्व आँका गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भाव-व्यंजना में चेष्टा का पर्याप्त योग मानना होगा। वास्तव में चेष्टाएँ दो प्रकार की होती हैं—साधक और सिद्ध। जब कभी वे वाणी के सहायक के रूप में व्यक्त होती हैं तो वे साधक कहीं जाँयगी। बात करते समय वार्ता में पूर्णता ले आने के लिए व्यक्ति हाथ, आँख, मुख आदि से अनेकानेक चेष्टाएँ करता है। जहाँ वाणी मूक होती है—कुछ ऐसे प्रसंग होते हैं जहाँ वाणी से काम नहीं लिया जा सकता, क्योंकि सामाजिक विधि-निषेध उनके प्रतिकूल पड़तें हैं—वहाँ उनका स्थान चेष्टाएँ ले लेती हैं। इनको सिद्ध चेष्टा का नाम दिया जा सकता है। ये चेष्टाएँ प्रायः गूढ़ार्थ की द्योतक होती हैं। प्रेम-प्रसंगों में इन गूढ़ार्थ-गर्भ चेष्टाओं का जितना महत्त्व आँका जाय थोड़ा है।

**चेष्टा**

यहां एक बात और भी ध्यान देने की है कि ये चेष्टाएँ संयोगमूलक चेष्टाएँ हैं, वियोग में इनका कोई महत्त्व नहीं है। वियोग की भाव-विह्वल अवस्था में इस सचेत व्यापार का कोई स्थान नहीं है। बिहारी के क्रीडापरक दृष्टिकोण के कारण उनकी सतसई में चेष्टाओं के उदाहरण भरे पड़े हैं।

कुछ उदाहरण देखिए—

(१) **त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि, सकुचि, समाहि।**
**गली, अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि॥**

(२) **भौंह उँचै, आँचरु उलटि, मौरि मोरि, मुँह मोरि।**
**नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सौं जोरि॥**

(३) **लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीस, छुवायौ स्याम।**
**हरि सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम॥**

तीसरे दोहे की रत्नाकरी टिप्पणी देखें—

'[ नायिका को ] गुरुजनों के बीच में देखकर श्याम ने [ अपना ] सिर कमल से छुवाया (पाँव पड़ने की चेष्टा कर के मिलने की प्रार्थना सूचित की)। बाम ( वामा अर्थात् नायिका ) ने [ वह भाव समझ कर अपनी ] आरसी हरि ( सूर्य )के सामने करके हृदय में लगा ली ( आरसी में सूर्य का

प्रतिबिम्ब लेकर कुच-रूपी पहाड़ों के बीच में लगने से यह सूचित किया कि सूर्य के अस्ताचल में छिपने पर, अर्थात् रात्रि को, मिलूंगी )।'

पर यदि इसको काव्य मान लिया जाय तो पहेलियों को भी इसी की श्रेणी में रखना होगा।

वस्तु, अलंकार और रस की दृष्टि से व्यंजना के तीन भेद होते हैं—वस्तु-व्यंजना, अलङ्कार-व्यंजना और रस-व्यंजना। वस्तु और अलङ्कार के लिए व्यंग्य होना अनिवार्य नहीं है वे वाच्य भी होते हैं, पर रस व्यंग्य ही होता है, वाच्य रूप में रस प्रतीति हो ही नहीं सकती। बिहारी सतसई में तीनों तरह की व्यंजनाएँ मिलती है—

**व्यंग्य के तीन भेद**

**वस्तु-व्यंजना**

**कुंज भवनु तजि भवन कौं चलियै नंदकिसोर।**
**फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुँ ओर॥**

अन्तिम पंक्ति से दो वस्तुओं की व्यंजना हो रही है एक तो फूली हुई गुलाब की कली की चटचटाहट की और दूसरी प्रातःकाल की।

**अलंकार-व्यंजना**

**तूँ रहि, हौंही, सखि, लखौं, चदि न अटा बलि, बाल।**
**सबहिनु बिनु हीं खसि-उदै दीजतु अरघु अकाल॥**

यहाँ भ्रांतिमान अलङ्कार व्यंग्य है।

**रस-व्यंजना**

**जहाँ जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ स्यामु सुभग सिरमौरु।**
**बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु दृगनु अजौं वह ठौरु॥**

'जहाँ-जहाँ सुन्दर पुरुषों के शिरोमणि श्याम ( श्री कृष्णचन्द्र ) को खड़ा देखा था, वह ठौर अब तक उनकी अनुपस्थिति में भी दृगों को क्षणमात्र पकड़ रखता हैं।' श्री कृष्ण के संसर्ग में आने वाले सभी स्थान आखों को क्षण भर

के लिए पकड़ लेते हैं। इस तरह स्मृति-संचारी व्यंग्य होता है, इस स्मृति-संचारी से विप्रलंभ शृंगार की व्यंजना होती है।

व्यंजना के अनेक भेदों और उदाहरणों की पर्यालोचना हमें यह सोचने के लिए बाध्य करती है कि व्यंजना सर्वत्र उत्तम काव्य की द्योतिका नहीं हैं। आचार्यों ने इसी लिए उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम काव्य-श्रेणियाँ मानी हैं। उत्तमोत्तम काव्य वही माना जायगा जिसमें रस-ध्वनि के अधिक स्थल मिलें। इस दृष्टि से सतसई का अध्ययन रोचक विषय होगा।

———

७

# भाषा

काव्य की भाषा और गद्य की भाषा में अन्तर होता है; क्योंकि दोनो की अभिव्यंजना-पद्धतियों में अन्तर होता है। काव्य की भाषा का प्रयोग मन की भावात्मकता पर आधारित है तो गद्य की भाषा मन की दूसरी स्थिति पर आश्रित है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति के समय मन की एकतानता अत्यधिक घनीभूत रहती है और गद्यात्मक अभिव्यक्ति के अवसर पर वह प्रसरणशील दिखाई देती है। पहली अवस्था में मन को संश्लेषणात्मक कहा जा सकता है तो दूसरी अवस्था में उसे विश्लेषणात्मक की संज्ञा दी जाती है। रचना-प्रक्रिया की अवधि में गद्यात्मक भाषा अपेक्षाकृत अधिक नियमानुवर्तिनी और परंपरायुक्त होती है। भाव-संकुल होने के कारण काव्य-भाषा लोक-भाषा का अतिक्रमण कर जाती है, उसमें अर्थ का कसाव अधिक आ जाता है। इसीलिए काव्य-भाषा को आई० ए० रिचार्ड्स ने रागबोधात्मक ( Emotive ) कहा है।

शब्द का बाह्याकार तथा उसका संगीत, उसकी अर्थवत्ता तथा उसकी सांकेतिकता कवि के लिए सब कुछ है। संस्कृत के आचार्यों ने शब्दार्थ को अविभाज्य और एक माना है। शब्दों के अनुषंग ( Associations ) एक विशेष प्रकार के चाक्षुष बिंब की सर्जना करते हैं जिससे भावों और विचारों के संमूर्तन में सहायता पहुँचती है। काव्यात्मक शब्दावली के लिए इतना ही

अलम् नहीं है बल्कि उसे मानसिक तारों को स्पन्दनपूर्ण भी बनाना पड़ता है। मेरी दृष्टि में इस तरह की शब्दावली में व्यंजना-शक्ति की निहिति आवश्यक है।

काव्यात्मक भाषा की अपनी एक लय और शब्दावली होती है जो युग के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। तुलसी-सूर की ब्रजभाषा की लय और रीतिकालीन कवियों की ब्रजभाषा की लय में पर्याप्त अन्तर है। उसी प्रकार रीतिकालीन ब्रजभाषा और भारतेन्दु-रत्नाकार की ब्रजभाषा की लय में काफ़ी अन्तर आ गया है। कभी-कभी एक ही युग के दो-कवियों की लय में बहुत पार्थक्य दिखाई देता है। उदाहरणार्थ भारतेन्दु और रत्नाकर की भाषाओं की लयात्मक भिन्नता देखी जा सकती है—एक की लय आधुनिक है तो दूसरे की यध्यकालीन। ऐसा व्यक्तिगत विचारों के कारण होता है। यही बात शब्द ( Idioms ) के सम्बन्ध में भी लागू है। लय और शब्द का सम्बन्ध तत्कालीन जीवन से होता है। इस अर्थ में कोई काव्य अपने युग का अतिक्रमण नहीं करता। अपने युग की शब्दावली और लय से पूर्णतया सम्बन्ध न होने पर कोई काव्य युग का प्रतिनिधित्व कर पाने में सर्वथा असमर्थ होता है। नई कविता अपने आज के रूप में युग जीवन को बद्ध करने में समर्थ नहीं हो पा रही है। इस दृष्टि से रीतिकाल का काव्य आदर्श कहा जा सकता है।

अब हम पहले इन दोनों दृष्टियों से बिहारी की भाषा पर विचार करेंगे। इसके अनन्तर भिन्न-भिन्न प्रकार की बोलियों तथा व्याकरणगत स्थिरता-अस्थिरता पर विचार करना अधिक संगत होगा, क्योंकि काव्यभाषा के महत्त्व का आकलन इसी क्रम में करना अधिक मनोवैज्ञानिक है।

ऊपर इस बात का संकेत किया जा कुका है कि गद्य में अर्थ-बोध का महत्त्व होता है तो काव्य में राग-बोध का। राग-बोधात्मक शब्दों का चयन अधिक सतर्कता और भाषागत अधिकार की माँग करता है। राग-बोधात्मक होने के लिए आवश्यक है कि कवि को यह मालूम हो कि अमुक शब्द अपने संदर्भ में औचित्यपूर्ण तथा व्यंजक है। व्यंजक होने के लिए एक हद तक शब्द को अनुषंग-संयुक्त होना चाहिए। और यह तभी सम्भव है जब उसे शब्द की आत्मा का पूर्ण ज्ञान हो। यहाँ कुछ उदाहरणों के आधार पर यह दीख पड़ेगा कि शब्दों का कितना गहरा ज्ञान बिहारी को था।

**भाषा की आत्मा का ज्ञान**

'कृष्ण' शब्द को ही लीजिए। इसके अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग बिहारी ने किया है जिनकी छान-बीन करने पर लगता है कि उन संदर्भों में वे ही शब्द सर्वाधिक उपयुक्त थे—

(१) साजे **मोहन-मोह** कौं, मोहीं करत **कुचैन**।

× × ×

(२) कच-अंगुरी-बिच दीठि दै, चितवहि **नन्दकुमार**।

× × ×

(३) रतिपाली, आली अनत, आए **बनमाली** न।

× × ×

(४) चटक-भरयौ **नटु** मिलि गयौ अटक-भटक-बट माँह।

× × ×

(५) फेरि डहडही कीजियै सुरत सींचि **घनस्याम**।

मोहन के मोहने में जो चमत्कार है वह अन्य के नहीं। मोहन मोहकता के गुण से स्वयं सम्पन्न हैं, इसलिए उनको मुग्ध करना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। नन्दकुमार में जो कुमारत्व है वह चितए जाने के प्रसंग में अर्थ-गर्भत्व से पूर्ण है। संकेतस्थल पर, जो प्रायः बन, नदी-तट आदि हुआ करता है, न आकर बनमाली ही अन्यत्र रति का पालन कर सकते हैं। अटक-भटक-बट के प्रसंग में कोई कुशल नट ही गुमराह नायिका का उद्धार करने में समर्थ है। 'घनश्याम' श्लेषत्वेन व्याख्या की माँग नहीं करता।

कहीं-कहीं बिहारी में इस औचित्य का निर्वाह नहीं हो पाया है, जैसे—

**कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिबी मुरारि।**
**बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥**

यहाँ पर 'मुरारि' शब्द से तारने की अशक्तता स्पष्ट है। पर इस तरह का स्खलन बिहारी में बहुत कम हैं।

**चितु बितु बचतु न, हरत हठि लालन-दृग बरजोर।**
**सावधान के बटपरा ए, जागत के चोर॥**

यों इसमें यह चमत्कार तो है ही कि सामान्यतः चोर और डाकू असावधान और सोए हुए मनुष्य का धन-हरण करते हैं पर बरजोर आँखें सावधान और जागते हुए का चित्त-वित्त हरण करती हैं। किंतु यदि यहाँ बटपरा की जगह चोर और चोर के स्थान पर बटपरा रख दें तो शब्द-प्रयोग अनौचित्यपूर्ण

हो जायगा क्योंकि जागते हुए व्यक्ति की चोरी तो की जा सकती है पर सावधान व्यक्ति का धन चुराना बहुत ही कठिन है। सावधान व्यक्ति का धनापहरण बलपूर्वक किया जा सकता है जो चोर का नहीं डाकू का काम है।

'लोचन' और 'लोइन' समानार्थी हैं। इन दोनों शब्दों का प्रयोग सतसई में हुआ है—पर भिन्न भिन्न संदर्भों में। 'लोइन' में जो 'लावण्य' भाव निहित है वह लोचन में नहीं।

शब्दों के इस वैशिष्ट्य और औचित्य का विचार व्यंजना और शब्द-ध्वनि के प्रसंग में किया जा चुका है। मुहावरों की चर्चा भी अलग से हो चुकी है। यहाँ पर उनका पिष्टपेषण नहीं किया जायगा।

**'दास' की षट्विधि भाषा**

'भिखारीदास' ने 'काव्य-निर्णय' में लिखा है—

**भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोइ।**
**मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति प्रगट जु होइ॥**
**ब्रज मागधी मिले अमर, नाग जमन भाषानि।**
**सहज पारसी हूँ मिले, षट विधि कवित बखानि॥**

अर्थात् ब्रजभाषा में संस्कृत और फ़ारसी का स्पष्ट मेल है। इनके साथ ही उसमें मागधी, नाग ( अपभ्रंश ), यवन ( खड़ी बोली ) का संमिश्रण था। फारसी के मेल के सम्बन्ध में दास पर्याप्त सावधान प्रतीत हो रहे हैं, इसीलिए उन्होंने 'सहज' का प्रयोग किया है। 'सहज' यहाँ पर क्रियाविशेषण है। उसका अर्थ यह है कि ब्रजभाषा में फारसी के वे ही शब्द गृहीत होने चाहिएँ जो स्वाभाविक रूप से उसमें खप जाँय।

अपनी दीर्घ परंपरा और भौगोलिक स्थिति के कारण ब्रजभाषा का बहुत ही अधिक प्रचार और प्रसार हुआ। इसलिए वह स्वच्छन्दता पूर्वक अनेक भाषाओं और बोलियों के शब्दों को ग्रहण करती गई। कोई भी विकसनशील भाषा अपनी भौगोलिक सीमा का अतिक्रमण कर नए-नए शब्दों को आत्मसात् करती जाती है। यह उसकी समृद्धि और गतिशीलता का लक्षण है। जब कोई भाषा परिनिष्ठित हो जाती है तो उसके क्षेत्र के बाहर के कवि भी उसी भाषा में अपनी रचना करते हैं। ब्रजभाषा के साथ भी ऐसा ही हुआ। इसके फलस्वरूप उसमें बहुत सी बोलियों के शब्द अनजाने ही आ मिले। इसीलिए तो दास को कहना पड़ा था—

**'बृजभाषा हेत बृजबास ही न अनुमानौ,**
**ऐसे ऐसे कबिन की बानी हूँ सों जानिए।'**

**संस्कृत और अरबी-फारसी**

संस्कृत की विपुल शब्दावली ब्रजभाषा को उत्तराधिकार में मिली है। बिहारी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग सतसई में खूब किया है। कज्जल, अद्वैतता, सचिक्कन, निदाघ, जालरंध, श्रमस्वेदकन-कलित, पावस प्रथम प्रयोद, काय व्यूह, इन्दीवर, कलित-ललित अलिपुंज, कोकनद, घनसार, प्रति-बिंबित, मकराकृति, परिमल, घण्टावली, श्रुति, ब्रह्म, रूपसुधा आसव आदि आदि सब्द सतसई में देखे जा सकते हैं।

मुसलमानों के आगमन से इस देश में जिस नवीन संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ उससे भाषा के क्षेत्र में भी नया रंग आया। बहुत से मुसलमान राजा-रईसों ने हिन्दू कवियों को उदारतापूर्वक आश्रय दिया। हिन्दू-मुसलमान जनता आपस में इतनी घुलमिल गई, कि एक दूसरे की रीति-नीति, आचार-विचार और भाषा-संस्कृति में भी मिश्रण आ गया। हिन्दी-साहित्य के प्रारंभिक कवियों तक की भाषा में अरबी-फारसी के शब्द अनायास ही आ मिले। अरबी-फारसी के कुछ शब्द तो जन-जीवन के अंश बन गए। समर्थ कवियों ने प्रायः इन्हीं शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। सतसई में प्रयुक्त अहसान, कुवत, चश्मा, जोर, बेकाम, सिकार, कबूल, निसान, हद, हमाम, नाहक, फौज, पायन्दाज, मुलुक आदि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे ही शब्दों को दास ने 'सहज पारसी हू मिले' कहा है। पर बहुत से अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से भी इनकी रचना अछूती नहीं है, जैसे—इजाफा, बदराह, ताफता, रोहाल, आमिल, सबी ( शबीह ) आदि। फिर भी सतसई में ऐसे शब्द अपेक्षाकृत कम हैं। जिस सामंतीय वातावरण में इनका लालन-पालन हो रहा था उसमें ऐसे पांडित्य प्रकाशक शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक था।

ऊपर कहा जा चुका है कि ब्रजभाषा की कविता में संस्कृत और फारसी शब्दों का बाहुल्य रहा है। बिहारी ने कहीं पर अरबी-फारसी के शब्दों को संस्कृत और ब्रजभाषा के व्याकरण में बाँधा है तो कहीं संस्कृत-ब्रजभाषा के शब्दों को बिदेशी उपसर्गों-प्रत्ययों से सजाया है। नेवाज का नेवाजिबो, गुनाह का गुनही आदि पहले प्रकार के उदाहरण हैं तो बे-पाय और छाँहगीर जैसे शब्द दूसरे प्रकार के उदाहरण।

सामान्यतः ब्रजभाषा बुन्देलखण्डी, अवधी और पूर्वी बोलियों से प्रभावित है। इसके कारणों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। बिहारी के सम्बन्ध में तो प्रसिद्ध है—'जन्म ग्वालियर जानिए खन्ड बुंदेले वाल।' लड़कपन के गहरे संस्कारों को मिटा पाना सम्भव नहीं है। बिहारी में बुन्देलखंडी के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है—

**बोलियों का घालमेल**

**कौन भाँति रहिहैं बिरद अब देखबी मुरारि।**
**बीधे मोंसों आनि कै गीधे गीधहिं तारि॥**

उपर्युक्त दोहे में देखबी, बीधे, गीधे बुन्देलखंडी शब्द हैं। अन्य कवियों की भाँति 'घैरु' का प्रयोग भी बिहारी ने किया है जो बुन्देलखंडी है।

अवधी में भूतकालिक क्रियाओं के लध्वंत रूप खूब चलते हैं। इनमें लिंग, वचन और पुरुषगत विकार की आशंका नहीं रहती। ब्रजभाषा में भी इन प्रयोगों को देखा जा सकता है। अवधी और पूर्वी के अन्य बहुत से शब्द भी ब्रजभाषा में इस तरह प्रयुक्त हुए हैं कि उन्हे सरलता पूर्वक अलग करना कठिन हो जाता है। अवधी से प्रभावित ब्रजभाषा के कुछ नमूने देखिए—

**किती न गोकुल कुलबधू, काहि न किहि सिख दीन।**
**कौने तजीं न कुल गली ह्वै मुरली-सुर-लीन॥**
**पिय तिय सौं हँसिकै कह्यौ लखै दिठौना दीन।**
**चंदमुखी मुखचंद तैं, भलौ चंदसम कीन॥**

अवधी की कुछ क्रियाओं का प्रयोग भी बिहारी ने किया है—

**'चित के हित के चुगल ए नित के होहिं न नैन।'**

इस पर रत्नाकर जी की टिप्पणी द्रष्टव्य है—"'होंहि' का प्रयोग हैं के स्थान पर अवधी भाषा में प्रचलित है। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'होंहि' का प्रयोग हैं के अर्थ में बहुतायत से किया है।"

डा० हरवंशलाल शर्मा और परमानन्द शास्त्री ने "बिहारी और उनका साहित्य' में संस्कृत के स्वार्थे 'क' प्रत्यय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अवधी में 'वा' प्रत्यय भी स्वार्थे प्रयुक्त होता है। 'यह वा' प्रत्यय व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से भी जोड़ दिया जाता है जैसे हमीद से हमीदवा···। बिहारी सतसई में इस प्रकार का केवल **एक** ही उदाहरण आया है—

**गोरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड़।**
**कैसी लसति गवाँरि यह सुनकिरवा की आड़॥"**

किन्तु इस प्रकार के प्रत्ययों के एकाधिक उदाहरण बिहारी में मिल जाते हैं।

**(१) ऐंचति सी चितवनि चितै भई ओट अलसाय।**
**फिरि उझकनि कौं मृगनयनि दृगनि लगनिया लाय॥**

**(२) लटुवा लौं प्रभुकर गहैं निगुनी गुन लपटाइ।**
**वहै गुनी कर तैं छुटैं निगुनीयै ह्वै जाइ॥**

लगनिया का 'या' और लटुवा का 'वा' स्वार्थे प्रत्यय हैं।

मिश्रबन्धुओं ने बिहारी पर भाषा को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने का आरोप लगाया है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत उल्लेख्य है—

**शब्दों की तोड़-मरोड़**

'बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्यरचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं-कहीं गढ़न्त शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। दो-एक स्थल पर ही स्मर के लिए 'समर' 'ककै' ऐसे विकृत रूप मिलेंगे। जो यह भी नहीं जानते कि संक्रांति को संक्रमण ( अप० संक्रोन ) भी कहते हैं, अच्छं साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आसपास बोला जाता है और कबीर, जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है। सोनजाई शब्द सोनजाती से निकला है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में वारि और वार् दोनों शब्द हैं और वार्द का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, खटकति का रूप बहुवचन में यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष[1]।'

---

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २५०

इस सम्बन्ध में रत्नाकर जी ने मुख्यतः दो क्रियाओं का उल्लेख किया है--'चितई' और 'किय' का। चितई वस्तुतः ब्रजभाषा व्याकरण के अनुसार शुद्ध नहीं माना जा सकता। 'चितवना' का भूतकालिक प्रयोग ब्रज में चितयो या चितयौ होगा और अवधी में चितई। पर बिहारी ने लिखा है--

**क्रिया के कुछ चिंत्य प्रयोग**

**चितई ललचौंहैं चखनु डटि घूँघट-पट माँह।**
**छल सौं चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छाँह॥**

रत्नाकर जी का कहना है कि 'इस शब्द का प्रयोग बिहारी ने सब ठौर अकर्मक ही किया है। १४४, ३१६, ४६३ तथा ६२३ अंकों के दोहों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है, और सब में अकर्मक ही प्रयोग है।[1] पर पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने यह कहते हुए कि 'पर 'लखी' का प्रयोग भी मौजूद है' इस प्रयोग को चिंत्य माना है।

लेकिन इस तरह के प्रयोग पुरानी ब्रजभाषा में मिलते है—

**हौं पठई तौ लेन सुधि तैं रति मानी जाय।**[2]

'किय' का 'कियौ' के अर्थ में बिहारी ने प्रयोग किया है (दे० बिहारी रत्नाकर दो० ४२, २१२)। रत्नाकर जी का कहना है कि 'किय शब्द का एक वचन पुल्लिग रूप सामान्यतः 'कियौ' होता है, पर ४२ वें अंक के दोहे में बिहारी ने भी अन्य कवियों की देखा-देखी किय रूप ही एकवचन पुल्लिग में प्रयुक्त कर दिया है। ऐसे प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास जी ने अधिकता से किए हैं।[3]

जो हो पर यह प्रयोग चिंत्य ही माना जायगा।

लिंग की गड़बड़ी प्रायः ब्रजभाषा के सभी कवियों में मिलती है। ब्रजभाषा में अनेक अंचलों की बोलियों के संमिश्रण के कारण इस प्रकार की गड़बड़ी का सन्निवेश स्वाभाविक हो गया क्योंकि एक ही शब्द एक अंचल में एक लिंग मे प्रयुक्त होता है तो दूसरे अंचल में दूसरे लिंग में। बिहारी भी इससे अछूते नहीं रह सके। रत्नाकरी टीका में इस प्रकार के कई शब्दों

**लिंग की गड़बड़ी**

१—बिहारी रत्नाकर, नवीन संस्करण २, पृ० ६
२—हमारे हिन्दी, ना० प्र० सभा, काशी पृ० ६८
३—कविवर बिहारी, पृ० ११०-११

का निर्देश किया गया है जो लिंग की दृष्टि से औचित्यपूर्ण नहीं माने जा सकते।

रत्नाकर जी ने इस सिलसिले में उसासु ( दो० १३८, २६२ ), वरष ( दो० २६० ), मिठासु ( दो० ३२३ ), रुख ( दो० ३६४ ), पल ( दो० ५८६ ), बकवास ( दो० ६३७ ), वायु ( दो० ३६२ ) आदि शब्दों की लिंग सम्बन्धी त्रुटियों का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ का प्रयोग उन्होंने त्रुटिपूर्ण स्वीकार कर लिया है और कुछ को परंपरा से प्राप्त बतलाया है। 'उसास' शब्द को ही लें। रत्नाकर जी का कहना है—'भाषा के कवियों ने इस शब्द को पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग दोनों रूपों मे प्रयुक्त किया है। बिहारी ने भी इसका दोनों प्रकार से प्रयोग किया है। इस दोहे के अतिरिक्त सतसई के और आठ दोहों में यह शब्द आया है। २६२, ३३४, ४४६, ४८७, ५०७, ५३४, ५५३ तथा ६६० अंकों के दोहे द्रष्टव्य हैं। इनमें से कई दोहों में इसका स्त्रीलिंग-प्रयोग हुआ है और कई में पुल्लिग-प्रयोग।' 'बरष' शब्द के सम्बन्ध में उनका कहना है कि इसे उन्होने स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया है, ब्रज की बोलचाल की भाषा में इसका स्त्रीलिंग प्रयोग सुनने में आता है, पर कविता में इसका प्रयोग पुल्लिग में ही हुआ है। 'मिठासु' सामान्यतः पुल्लिग माना जाता है पर बिहारी ने इसका प्रयोग पुल्लिगवत् किया है। ४७३ वें दोहे में इसके साथ 'दयौ' तथा 'कितौ' शब्दों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि वे इसे पुल्लिग मानते थे।

'रुख' का प्रयोग बिहारी ने स्त्री लिंग में किया है (दे० दो० २१६, २४३, ३६४ और ४१५)। यह फारसी का शब्द है जो वहाँ स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है। किन्तु भाषा में इसके दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते है। बिहारी ने इसको स्त्रीलिंग मानकर कम से कम एकरूपता की रक्षा की हैं। 'पल' का प्रयोग संस्कृत व्याकरण के अनुसार उन्होंने पुल्लिगवत् किया है जब कि भाषा में 'पल' और पलक का स्त्रीलिंग प्रयोग होता है।

'बकवादु' (दो० ६३७) पर अपने विचार प्रकट करते हुए रत्नाकर जी ने लिखा है—'बकवाद शब्द का प्रयोग यहाँ बिहारी ने पुल्लिगवत् किया है। यह शब्द 'वाक्य-वाद' से बना है···। संस्कृत में यह शब्द पुल्लिग ही होता है। पर भाषा में स्त्री लिंग माना जाता है[1]।' रत्नाकर जी ने बकवाद को

१—बिहारी-रत्नाकर, नवीन संस्करण २, पृ० २६२

उकारान्त मानकर इसे पुल्लिग मान लिया है। यदि इसे अकारान्त ही माना जाय और संस्कृत के 'वाक्यवाद' अपभ्रंश-रूप से इसकी संगति न बैठाकर फारसी के बकवास से बिठाई जाय तो द्राविड़ प्राणायाम की आवश्यकता न पड़े। जब सतसई में अरबी-फारसी के साधारण-असाधारण शब्द भरे पड़े हैं तो इसे फारसी के बकवास का ही एक रूप क्यों न माना जाय ? फारसी में बकवास स्त्रीलिंगवत ही प्रयुक्त होता है। इस दोहे में उकारान्त न होने पर इसे स्त्रीलिंग मान लेने पर क्या आपत्ति हो सकती है ?

अब आइए 'वायु' शब्द पर विचार करें। रत्नाकर जी का कहना है कि 'इस दोहे में बिहारी ने वायु शब्द का स्त्रीलिंग-प्रयोग किया है, पर इसके पहले के दोहे में 'बाइ' शब्द को पुल्लिग माना है। भाषा में वायु शब्द स्त्री-लिंग तथा पुल्लिग, दोनों ही रीति से प्रयुक्त होता है[1]। यहाँ पर दोनों दोहों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

**( १ ) लपटी पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद मकरंद।**
**आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायु गति मंद॥**

**( २ ) चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ।**
**आवतु दच्छिन देस तैं थक्यौ बटोही बाइ॥**

कहना न होगा कि उदाहरण संख्या १ में वायु का स्त्रीलिंग प्रयोग है और उदाहरण संख्या २ में 'बाइ' का पुल्लिग प्रयोग है। पहले उदाहरण में वायु प्रस्तुत है और 'नारि नवोढ़' अप्रस्तुत। इसमें 'वायु' का प्रयोग स्त्री-लिंग में ही हुआ है। दूसरे उदाहरण के प्रस्तुत-अप्रस्तुत में लिंग-वचन साम्य के स्थापनार्थ वायु का पुल्लिग प्रयोग हुआ हैं। कुछ कुशल कवियों ने उपमालंकार में लिंग-वचन साम्य के साथ-साथ व्याकरण की भी रक्षा कर ली है—

**तं प्राप्य सवावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी।**
**न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं कांक्षति षट्पदाली॥**
**—कालिदास, रघुवंश, ६।६१**

इसमें उपमेय कुमारी है और उपमान षटपदाली। लिंगवचन-साम्य के लिए षटपद का षट्पदाली कर लिया गया है।

---

१—बिहारी रत्नाकर, नवीन संस्करण २, पृ० १६१

अपनी कतिपय त्रुटियों के बावजूद भी बिहारी की भाषा परिनिष्ठित ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा के व्याकरण-संमत नियमों का निर्धारण करने के लिए रत्नाकर जी ने सतसई की भाषा को प्रतिमान माना। बिहारी की भाषा को दृष्टि में रखते हुए रत्नाकर जी की काव्य-भाषा का अध्ययन रोचक विषय होगा। बिहारी की भाषा की श्रेष्ठता का बोध पुराने कवियों को भी था। सं० १७४३ में कुलपति मिश्र ने 'युक्ति तरंगिणी' में साफ लिखा है—

**भाँति भाँति रचना सरस देव गिरा ज्यौं ब्यास।**
**त्यौं भाषा सब कविनि मैं बिमल बिहारी दास॥**

———

८

## मुक्तक-दोहा

संस्कृत के आचार्यों ने मुक्तक को विभिन्न ढंग से परिभाषित किया है। उन परिभाषाओं में से कुछ निम्नलिखित हैं—

**( १ ) मुक्तकं वाक्यान्तर निरपेक्षो यः श्लोकः।**

**—काव्यादर्श**

**( २ ) मुक्तकमेतरानपेक्षमेकं सुभाषितम्।**

**—तरुणा वाचस्पति ( काव्यादर्श के टीकाकार )**

**( ३ ) मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।**

**—अग्निपुराण**

**( ४ ) मुक्तकमन्येनानालिङ्गितम् ··पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।**

**—अनिनवगुप्त, ध्वन्यालोक लोचन।**

पहली परिभाषा में वाक्यान्तर निरपेक्ष श्लोक मुक्तक कहा गया है। इसमें मुक्तक के बाह्य पक्ष का उल्लेख है। आन्तरिक पक्ष का नहीं। इसलिए यह परिभाषा त्रुटिपूर्ण है। दूसरी परिभाषा में इतर की अपेक्षा न करने वाला सुभाषित मुक्तक माना गया है। तरुण वाचस्पति का 'सुभाषित' शब्द बड़ा भ्रामक है। सुभाषित सूक्ति काव्य होता है। इसमें सूक्तिकार प्रायः जीवन के

अनुभावित सत्यों का उद्‌घाटन नैतिक मूल्य-बोध की दृष्टि से करता है। इन सुभाषितों का रसक्षम होना आवश्यक नहीं है, अतएव उन्हें काव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। अग्निपुराण के अनुसार अकेले ही सहृदयों को चमत्कृत करने वाला श्लोक मुक्तक है। यह चमत्कार रस का पर्याय है। अग्नि-पुराणकार ने आत्मचैतन्य, रस और चमत्कार को समानार्थक माना है। अभिनवगुप्त और कुन्तक ने 'चमत्कार' का प्रयोग 'रस' के अर्थ में किया है। पंडितराज जगन्नाथ काव्य की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद जनक ज्ञान गोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतः चमत्कार पर्यायः अनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।' कहने का तात्पर्य है कि काव्य-शास्त्र में चमत्कार रस के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इसलिए अग्निपुराण की दी हुई परिभाषा सर्वथा औचित्यपूर्ण है। पर अभिनवगुप्त ने लोचन में इसकी जो परिभाषा दी है वह सर्वाधिक स्पष्ट और पूर्ण है। अन्य से अनालिंगित, पूर्वापरनिरपेक्ष होते हुए मुक्तक रस-क्षम होता है। पूर्वापरनिरपेक्षता मुक्तक की बाह्य विशेषता है तो चमत्कारोत्पादन की क्षमता उसकी आन्तरिक विशेषता। मुक्तक की मुक्तता उसके अन्य से अनालिंगन में है, उसके अकेलेपन में है। पर उसे काव्य होने के लिए रस-क्षम होना अनिवार्य है।

किन्तु मुक्तक की पूर्वापरनिरपेक्षता को लेकर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मुक्तक पूर्वापरनिरपेक्ष होकर पूर्वापरसापेक्ष नहीं हो सकते ? हो सकते है। सूरसागर के पद क्या पूर्वापरसापेक्ष नहीं हैं ? पर सूर के पदों का यह वैशिष्ट्य है कि वे पूर्वापरसापेक्ष होकर भी एक दूसरे से अनालिंगित या स्वतंत्र हैं। मुक्तकों के सम्बन्ध में विचार करते समय विचार्य होता है उनका अन्य से अनालिंगन या स्वातंत्र्य। इसी शर्त की रक्षा करते हुए यदि प्रबन्ध के मध्य में कोई श्लोक हो तो वह मुक्तक कहा जा सकता है, इसे अभिनव गुप्त ने स्वयं स्वीकार किया है। लेकिन मुक्तक को किसी वस्तु की संज्ञा या रूढ़ संज्ञा मान लेने पर [मुक्त (अन्य से अनालिंगित)+क (प्रत्यय)] प्रबंधान्तर्गत श्लोकान्तर से निरपेक्ष किसी रस-क्षम श्लोक को भी मुक्तक मानना अभिनव गुप्त ने अस्वीकार कर दिया है[1]—सूरसागर में प्रबन्ध-विधान मिलता है

१—तेन स्वतंत्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तक-मित्युच्यते। (लोचन)

फिर भी उसे प्रबन्ध-काव्य नहीं कहा जाता। उसी प्रकार प्रबंध काव्य के बीच मुक्तक को पूर्णतः चरितार्थ करने वाले श्लोक या पद्य मुक्तक नहीं हो सकते।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक और प्रबन्ध का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है—'मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है।'[१]

इस उद्धरण में शुक्ल जी ने मुक्तक को गुलदस्ता कह कर उसकी काँट-छाँट, तराश अर्थात् शिल्प सज्जा की ओर जो ध्यान आकृष्ट किया है वह बहुत संगत है पर प्रबंध और मुक्तक की प्रभावान्विति की चर्चा करते हुए एक को स्थायी और दूसरे को उतना स्थायी न मानना तर्कपूर्ण नहीं लगता। चंडीदास, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास के मुक्तकों को कम स्थायी कैसे माना जा सकता है? इन सभी कवियों ने कुछ मनोदशाओं के जो चित्र प्रस्तुत किए है वे अत्यंत मार्मिक तथा अविस्मरणीय है। इसीलिए तो कहा गया है—'अमरुक कवेरेकः श्लोकः प्रबंध शतायते।' अमरुक के एक एक श्लोक पर शत-शत प्रबन्ध निछावर हैं। इससे कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि मुक्तक अतिशय रस-क्षम और लोकप्रिय रहे हैं। ध्वनिवादियों के अनुसार मुक्तकों की उदात्तता निःसंदिग्ध हो चुकी है।

मुक्तकों की रसार्द्रता उनके प्रसंग-गर्भत्व और मर्मस्पर्शी खंड दृश्यों के चुनाव पर निर्भर है। प्रसंग गर्भत्व दो प्रकार का होता है—रूढ़ि युक्त और रूढ़ि मुक्त या स्वतंत्र। रूढ़ि युक्त सन्दर्भ-कल्पना के लिए सहृदय का शास्त्र-विहित काव्य-परिपाटियों से अभिज्ञ होना आवश्यक है। काव्य-रूढ़ियों की अधिक जानकारी मुख्यतः उन लोगों को होती है जो एक विशेष सांस्कृतिक परिवेश के प्राणी होते हैं। मुक्तक इन्हीं लोगों के बीच अधिक शोभन प्रतीत होते हैं। इसीलिए मध्यकाल के दरबारी वातावरण में इनके विकास का

---

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास,

अच्छा अवसर मिला। काव्य-परिपाटी से अनभिज्ञ पाठक निम्नलिखित दोहों की आस्वाद-क्षमता से अपरिचित ही रह जायगा:--

(१) पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले, सु भली करी, भले बने हौ लाल॥

(२) जुवति जोन्ह मैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ।
सोधें कैं डोरैं लगी अली चली सँग जाइ॥

(३) लाल, अलौकिक लरिकई, लखि लखि सखी सिहाँति।
आजकालि मैं देखियतु उर उकसौंहीं भाँति॥

इन दोहों का पूर्ण रसास्वादन वही कर सकता है जो खंडिता, अभिसारिका अंकुरितयौवना की परिभाषाओं से अभिज्ञ हो।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए--

बिथुरयौ जावक सौति-पग निरखि हँसी गहि गाँस।
सजल हँसौ ही लखि लियौ, आधी हँसी उसाँस॥

'यदि कोई इस रूढ़ि को न जानता हो कि नायक प्रेम के प्रसंग में महावर लगाया करते है, उनके सात्त्विक भाव (कंप) से ऐसे-ऐसे आघात लोगों के हृदय पर बराबर होते है, तो कोई कुछ नहीं कह सकता। 'आधी हँसी उसाँस' का तात्पर्य तभी खुलेगा। प्रसंग यह होगा कि कोई नायिका अपनी सौत के पैर में टेढ़ा-मेढ़ा महावर लगा देखकर इस व्यंग्य से हँसी कि इसे महावर लगाने का भी शऊर नहीं है। पर उसके हँसने पर सौत कुछ लज्जित हुई और हँसने-हँसने सी हो गई। नायिका ने तुरत ताड़ लिया कि मेरे नायक ने ही इसके पैर में महावर पोता है, अंगस्पर्शजन्य कंप के कारण यह फैल गया है, इसलिए वह पूरी तरह हँसने भी नहीं पाई, बीच में ही उसाँस लेने लगी।'[१]

पर मुक्तकों में संदर्भ कल्पना को उतना ही महत्त्व देना चाहिए जितना उसका प्राप्य है। संदर्भ-कल्पना काव्य का सहायक उपकरण है वह स्वतः काव्य नहीं है। यह कल्पना जहाँ चक्करदार होगी वहाँ रूढ़ियों की प्रधानता काव्यात्मकता को बहुत कुछ गौण बना देगी। बिहारी ने चक्करदार संदर्भ-

१- पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी, पृ० १२६

कल्पना के अतिरिक्त स्वाभाविक संदर्भ-कल्पना का भी सहारा लिया है और ऐसी कल्पना का उनमें आधिक्य है। एक उदाहरण लीजिए--

**मृगनैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन फूल।**
**बिन हीं पिय-आगम उमगि, पलटन लगी दुकूल॥**

इसके पूर्व के उदाहरण में, जिसमें सात्विक कम्प की रूढि का सहारा लिया गया है, काव्य पक्ष दब गया है और उसके स्थान पर चामत्कारिकता उभर कर सामने आई है। किंतु इस उदाहरण में आगमिष्यत्पतिका नायिका ने प्रिय के आगमन का शुभ शकुन अनुमान कर अपने भूषण-वसन का बदलना प्रारंभ कर दिया है। इस दोहे की संदर्भ-कल्पना सहज है, चक्करदार नहीं। इसलिए इसका काव्य-पक्ष अपने आप निखर आया है।

(२) स्वतन्त्र संदर्भ-कल्पना वहाँ की जाती है जहाँ काव्यशास्त्रीय रूढ़ियाँ काम नही देतीं। पर इन कल्पनाओं के लिए भी आवश्यक है कि सहृदय को काव्य-विषयक दीर्घकालीन अभ्यास हो--

**नहिं अन्हाइ, नहिं जाइ घर, चितु चिहुट्यौ तकि तीर।**
**परसि फुरहरी लै फिरति बिहँसति, धँसति न नीर॥**

इस दोहे का काव्य-सौन्दर्य तभी प्रस्फुटित होगा जब यह कल्पना कर ली जाय कि नायिका के स्नान-स्थल पर नायक आ गया है और नायिका उसकी दर्शन-लालसा के कारण स्नान में बिलम्ब करती है। यह संदर्भ-कल्पना किसी काव्य-रूढ़ि से बँधी नही है। यों इस प्रकार की संदर्भोद्भावना किसी तरह मौलिक नहीं कही जा सकती पर इसको किसी खास परिपाटी के भीतर नहीं रखा जा सकता।

इन संदर्भ-कल्पनाओं के आधार पर ही बिहारी को रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि कहा गया है। पर ये संदर्भ-कल्पनाएँ इस परंपरा में आने वाले प्राकृत संस्कृत के शतकों में भी मिलती हैं। इसलिए बिहारी की रीतिबद्धता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है।

रह गई खण्ड दृश्यों के चुनाव की बात। जो खण्ड दृश्य जीवन के जितने गहरे मर्म का उद्घाटन करेगा वह उतना ही प्रभावोत्पादक और जीवन्त होगा। वह दृश्य किसी आख्यान या वृत्त पर भी आधृत हो सकता है और गहन जीवनानुभव पर भी। सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों के मुक्तक प्रथम कोटि में आयेंगे तो बिहारी, घनआनन्द के दूसरी कोटि में।

यों तो कई दृष्टियों से मुक्तकों का वर्गीकरण किया गया है पर काव्य मीमांसाकार राजशेखर का वर्गीकरण सर्वाधिक संगत प्रतीत होता है। उनके मतानुसार मुक्तकों के पाँच भेद हैं--(१) शुद्ध, (२) चित्र, (३) कथोत्थ, (४) संविधानक भू और (५) आख्यानकवान्। जो मुक्तक इतिवृत्त विरहित हो वह शुद्ध के नाम से अभिहित होता है। यदि शुद्ध को विस्तार दिया जाय तो वह चित्र कहा जायगा। कथा से उत्थित होने वाला मुक्तक कथोत्थ कहा जाता है। किसी रंजकतापूर्ण घटना या संविधान से संयुक्त मुक्तक संविधानक भू की कोटि में रखा जायगा। आख्यानकवान् मुक्तकों में ऐतिहासिक आख्यान को कल्पना रंजित बना दिया जाता है। बिहारी सतसई में सभी के उदाहरण मिल जायँगे।

**भेद**

**शुद्ध मुक्तक—**

**अंग-अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह।**
**खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह॥**

इसमें कोई वृत्त नहीं है। नायिका का सहज सौन्दर्य अपने आप चित्रित हो उठा है।

**चित्र-मुक्तक—**

**आए आप भली करी मेटन मान-मरोर।**
**पूरि करौ यह देखिहै छला छिगुनिया-छोर॥**

इसमें मनोविकार को किंचित् विस्तार दे दिया गया है।

**संविधानक भू—**

**लरिका लैबै के मिसनि लंगर मों ढिग आय।**
**गयौ अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाय॥**

इसमें धूर्त नायक की छलपूर्ण प्रेम-क्रीड़ा का कथन है जो एक रंजक घटना है।

**आख्यानवान्—**

**नाह गरज नाहर गरज बोल सुनायौ हेरि।**
**फँसी फौज की बन्दि में हँसी सबन तन हेरि॥**

फौज के बीच घिरी हुई रुक्मिणी का वर्णन ऐतिहासिक वा पौराणिक आख्यान है इसे कल्पना के मिश्रण द्वारा रमणीय बना लिया गया है। 'नहि-

पराग···हवाल' दोहे को कथोत्थ मुक्तक कहा जा सकता है। पर बिहारी में कथोत्थ और आख्यानवान् मुक्तक कम मिलते हैं, उनमें शुद्ध, चित्र और संविधानक भू मुक्तकों की अधिकता है। भक्त कवि प्रायः आख्यानमूलक मुक्तकों की सर्जना करते रहे हैं पर भक्तेतर कवि प्रायः विशुद्ध भावजीवी होने के कारण आख्यानों का सहारा कम लेते थे। हाल, अमरु ऐसे ही कवि थे और बिहारी इन्ही की काव्य-परंपरा में पड़ते हैं।

बिहारी सतसई में दोहा छंद का प्रयोग किया गया है, कहीं-कहीं सोरठा भी दिखाई दे जाता है। भाषा और संस्कृति की नई करवट के साथ ही छंद करवट बदलता है। अपभ्रंश भाषा-साहित्य दोहा छंद साथ लेकर आया। उस काल की दर्पपूर्ण वीरता परक उक्तियों, कोमल शृंगारिक भावनाओं तथा नीतिपरक सूक्तियों को बाँधने में इसे पूरी सफलता मिली। अपभ्रंश का यह अपना छंद है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'दोहा या दूहा अपभ्रंश का अपना छंद है। उसी प्रकार जिस प्रकार गाथा प्राकृत का अपना छंद है। बाद में तो 'गाथा बंध' से प्राकृत रचना और 'दोहा बन्ध' से अपभ्रंश रचना का बोध होने लगा था। 'प्रबंध-चिन्तामणि' में तो 'दूहा विद्या' में विवाद करनेवाले दो चारणों के विवाद की कथा आई है, जो यह सूचित करती है कि अपभ्रंश काव्य को 'दूहा विद्या' भी कहने लगे थे। दोहा अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य में एक दम अपरिचित है, किंतु परवर्ती हिन्दी साहित्य में यह छंद अपनी पूरी महिमा के साथ वर्तमान है।[1] डॉ० द्विवेदी ने दोहे का संबंध आभीरों से जोड़ा है, क्योंकि अपभ्रंश भाषा भी आभीरों से संबद्ध है। सोरठा का संबंध सौराष्ट्र से जोड़ा गया है, इसे सोरठ दोहा भी कहते हैं। आभीरों-गुर्जरों का सौराष्ट्र से पुराना संबंध है।

**दोहा**

अपभ्रंश के कवियों के बावजूद हिन्दी के अनेक विशिष्ट कवियों ने इस छंद का प्रयोग किया है। मीरा और सूर के पदों में भी इसका विनियोग हुआ है। जायसी के पद्मावत और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के बीच-बीच इस छंद का प्रयोग किया गया है। यह प्रबंध विधान में कड़ियाँ मिलाने के साथ-साथ विराम का ही काम करता है। अपभ्रंश काव्यों में कई पंक्तियों के बाद घत्ता देने की रीति प्रचलित थी। पश्चिमी अपभ्रंश में दोहे

---

१—हिन्दी साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० ११

का घत्ता देना प्रचलित भी था। पद्मावत और रामचरितमानस में यह घत्तात्मक रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

रीति-काव्यों के लक्षण-निरूपण में दोहे का खूब प्रयोग किया गया। कदाचित् स्मरण की सुविधा से इसे अपनाना अधिक संगत लगा। कहीं-कहीं तो उदाहरण के लिए भी इसका उपयोग किया गया है। हिन्दी-सतसइयों की परंपरा में तो इस छंद का एकछत्र राज्य है।

पर साखी और दोहरा क्या हैं? गोस्वामी तुलसीदास ने एक स्थान पर कहा है—'साखी, सबदी, दोहरा कहि किहनी उपखान।' इससे पता लगता है कि साखी और दोहरा दोहे से कुछ भिन्न हैं। पहले 'साखी' साक्षी के अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा होगा—'साखि करब जालंधर पाएँ।' किंतु बाद में जब साक्षी के लिए दोहा छंद प्रयोग में ले आया जाने लगा तब साखी शब्द दोहा का समानार्थक हो गया। फिर भी विषय-वस्तु की दृष्टि से साखी की अपनी विशिष्ट परंपरा बनी ही रही। और दोहरा इसमें 'रा' स्वार्थे नहीं प्रयुक्त है, अन्यथा गोस्वामी जी अलग से इसका उल्लेख क्यों करते? भिखारीदास के मतानुसार दोहे के विषम चरणों में से एक-एक मात्रा घटा देने से दोहरा छंद बनता है।

दोहा अर्ध सम मात्रिक छंद है। इसके पहले तथा तीसरे चरणों में १३, १३ और दूसरे तथा चौथे चरणों में ११, ११ मात्राएँ होती हैं। सामान्यतः दोहे का यही लक्षण है। ब्रजभाषा के प्रकांड पंडित जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने दोहे के कई लक्षणों को उद्धृत करते हुए उनमें अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष दिखाया है। उन्होंने उसका लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है—

**आठ तीन द्वै प्रथम पद दूजै पद बसु ताल।**
**बसु में त्रय पर द्वै न गुरु यह दोहा की चाल॥**[1]

इसका अभिप्राय है कि दोहे के प्रथम तथा तृतीय चरण में ८, ३, २ और ८, ऽ। पर मात्राएँ अलग हो जानी चाहिए अर्थात् ८वीं ९वी से अथवा ११वीं १२वीं से मिलकर गुरु न हो जाय। पर ८, ३ आदि पर शब्दों का पृथक् होना आवश्यक नहीं है। मात्राओं की बाँट का क्रम इस प्रकार होगा—८+३+२, ८+( ऽ। )। रत्नाकर जी के इस लक्षण-निरूपण के आधार बिहारी सतसई के दोहे हैं।

---

१—कविवर बिहारी, प्रथम संस्करण, पृ० १३

अन्य छंदों की भाँति दोहा छन्द भी निरन्तर पारिमार्जित होता रहा है। बिहारी-सतसई में आकर उसे जैसे पूर्णता प्राप्त हो गई। थोड़े में बहुत अधिक कह जाने के लिए बड़ी कला-कुशलता अपेक्षित होती है। दोहे की इसी विशेषता को लक्ष्य करते हुए रहीम ने कहा है--

**दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।**
**ज्यौं रहीम नट कुंडली, सिमिटि कूदि चलि जाहिं॥**

थोड़े में व्यापक अर्थ को समेट लेना दोहे की समाहार शक्ति पर निर्भर है। किन्तु समाहार की क्षमता केवल सामासिक पदावली के प्रयोग पर नहीं आधारित है। बिहारी अपने दोहों में रूप, भाव, चेष्टा आदि का प्रभावोत्पादक चित्र खड़ा करते हैं। इस चित्र के लिए उन्होंने जो फलक चुना है उस पर थोड़ी ही रेखाएँ खींची जा सकती है। इन रेखाओं को खींच देने में ही—प्रभावोत्पादक ढंग से खींच देने में—चित्र को प्रभविष्णु और भास्वर बनाया जा सकता है। जिस तरह रेखा-चित्रों में कुछ ही सार्थक लकीरों द्वारा चित्र को अर्थ-पूर्ण बना दिया जाता है उसी तरह बिहारी के दोहों को भी गूढ़ अर्थ-गर्भ-व्यापारों के चुनाव द्वारा व्यंजक बना दिया गया है।

वस्तु या व्यापारों के चुनाव में बिहारी ने जिस कुशलता का परिचय दिया उसे निम्नलिखित दोहों में देखा जा सकता है—

**तंत्री नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।**
× × ×
**तन भूषन, अंजन दृगनि, पगनि महावर रंग।**
**(वस्तु)**

× × ×
**चमक तमक हाँसी ससक मसक झपट लपटानि।**
**(व्यापार)**

अपेक्षित भावों की अभिव्यक्ति में बिहारी ने कुछ ऐसे वस्तु-व्यापारों का चुनाव किया है जो प्रभावपूर्ण भाव-चित्र खड़ा करने में बहुत ही समर्थ हैं। इन वस्तु-व्यापारों में जो क्रम स्थापन किया गया है वह भी प्रभावोत्पादन में विशेष योग देता है। एक दोहा देखिए--

**सघन कुंज घन घन तिमिर अधिक अँधेरी रात।**
**तऊ न दुरि है स्याम यह दीप-सिखा-सी जात॥**

पहली पंक्ति में तीन वस्तुओं कुंज, तिमिर, अँधेरी रात को जो क्रम दिया गया है वह रात्रि की भयंकर कालिमा को उभारने में कितना सक्षम है।

इनके चुनाव में उन्होंने प्रायः तीन या चार ही वस्तु-व्यापारों को चुना है, इससे अधिक के लिए दोहे में अवकाश ही कहाँ है। चाहे उपमा, रूपक, असंगति, विरोधाभास, दृष्टांत आदि अलंकारों का निर्वाह करना हो चाहे अनुभाव, हाव आदि का चित्रण, सर्वत्र गूढ़-अर्थ-गर्भ वस्तु-व्यापारों को चुना गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे व्यापार-शोधन का नाम दिया है उसे सतसई में सामान्यतः सर्वत्र देखा जा सकता है।

कला के प्रति अत्यधिक सचेत होने के कारण इनके दोहों में टेकनीक संबंधी त्रुटि नहीं आ पाई है। समूचे हिन्दी-साहित्य में इतना सचेत कलाकार शायद ही कोई हुआ हो। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रत्नाकर जी में जो सचेतता दिखाई पड़ती है वह बिहारी से अनुप्राणित तथा प्रभावित है। पर जहाँ पहले की सचेतता युग के अनुकूल नहीं पड़ती वहाँ दूसरे की युग के सर्वथा अनुरूप बन पड़ी है। यही कारण है कि बिहारी का उदात्त रूप-विन्यास शोभन प्रतीत होता है। उनके दोहों के निर्माण में जिस क्रमागत पद-विन्यास (रेगुलैरिटी) और अंग-संघटना (सिमिट्री) का विनियोग हुआ है वह उन्हें रूपात्मक पूर्णता प्रदान करता है।

जिस युग में बिहारी के दोहे निर्मित हुए वह युग अपनी अलंकृति तथा काव्यात्मक बारीकियों के लिए इतिहास में सदैव याद रहेगा। चित्र तथा वास्तु-कला में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-भंगिमाओं को रूपायित करने में जिस नागरक रुचि का परिचय मिलता है बिहारी के दोहे भी उसी का प्रतिनिधित्व करते हैं।

———

# बिहारी का देखा हुआ समाज

बिहारी के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हुई है उसके आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनका जन्म एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। पर जयपुर दरबार की कृपा से वे सामंतीय वर्ग में दीक्षित हो गए। फिर तो उन्होंने अपने को उस वातावरण में ऐसा ढाला कि उनका समूचा दृष्टिकोण नागरकों का दृष्टिकोण हो गया। इसलिए उनके देखे हुए समाज का विश्लेषण करते हुए इस बात का ध्यान रखना होगा कि उन्होंने जो कुछ कहा है 'नागरकता के नाम' कहा है। पर अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के फलस्वरूप उस वर्ग की भी बहुत सी बातें जाने-अनजाने उनके दोहों में अभिव्यक्त हो उठी हैं। ग्राम के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण की चर्चा ग्रंथ के प्रारंभ में ही की जा चुकी है।

बिहारी को अपनी नागर-संस्कृति पर गर्व था। इसी से वे डंके की चोट कहते हैं—ये न यहाँ नागर बड़े···।' इन नागरों के प्रतिनिधि थे मिर्जा राजा जयसिंह। उनके कतिपय गुणों को बिहारी के ही शब्दों में सुनिए—

(१) प्रतिबिंबित जयसाह दुति दीपति दरपन-धाम।
सब जग जीतन कौं कियौ काय-ब्यूह मनु काम॥

(२) नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं बिकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यौ आगें कौन हवाल॥

**( ३ ) स्वारथ सुकृत न श्रम बृथा देखि बिहंग बिचारि।**
**बाज पराएँ पानि परि तूँ पच्छीन न मारि॥**

उपर्युक्त तीन दोहों में नागर संस्कृति के तीन पक्षों के प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। पहला दोहा उस संस्कृति के वैभव-विलास का प्रतीक है तो दूसरा उसकी काम-क्रीड़ा का। तीसरे में उसकी विवशता, चिन्तनहीनता तथा व्यक्तित्वहीनता चित्रित है। पहली और दूसरी विशेषताओं की चरम परिणति तीसरी में ही दीख पड़ती है।

मिर्जा राजा जयसिंह के जिस दर्पण-धाम की चर्चा ऊपर की गई है वह केवल बिहारी की ही कल्पना में नहीं आया था। देव का एक आदर्श महल देखिए—

**उज्जल अखंड खंड सातएँ महल महा-**
**मंडल सँवारो चन्द्रमंडल की चोट ही।**
**भीतर हू लालनि के जालनि बिसाल ज्योति,**
**बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोट ही।**

राज मार्गों की नयनाभिराम झाँकी लेने के लिए इन प्रासादों में जो गवाक्ष बने होते थे उसमें से झाँकती हुई नायिका को देखकर नायक कह उठता था—'पावक झर सी झमक कै, गई झरोखे झाँक।' पावक की लपट सी बिहारी की नायिका आज भी सहृदयों में ऐंद्रयानुभूति जागरित कर देती है।

जिस वातावरण में बिहारी का समय व्यतीत हो रहा था वह विलासिता से ओत-प्रोत था। सामन्तो से नारी के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण की आशा ही क्या की जा सकती थी। मुगलों की छत्र-छाया में ये विलासी सामन्त निर्भय विलास का सुख लूट रहे थे। उनके लिए 'तिय-छबि' 'छाया ग्राहिनी' से कम न थी। उन्हीं के मनस्तोष के लिए तो नायिका-भेद का विपुल-साहित्य तैयार हुआ था। बिहारी ने नायिका-भेद के लक्षण-उदाहरण तो नहीं प्रस्तुत किए पर नायिकाओ की अनेकानेक भंगिमाओं, चेष्टाओं, मनोदशाओ आदि के चटकीले चित्र खीचे। उन्हें घर में, घाट-बाट में, कुञ्ज-वन में सर्वत्र शोखी से भरी हुई देखा। इसीलिए पीछे कहीं पर मैंने लिखा है कि वे अपने युग के प्रति पूरी तरह से ईमानदार वे। नायिकाओं के सहज सौन्दर्य और भोलेपन

से उनको कुछ विशेष लेना देना नहीं था। वे उनके अन्दाज और शोखी पर फिदा थे—जो एक विशेष प्रकार के दृष्टिकोण का द्योतक था।

अनेक आभूषणों से अलंकृत तथा पारदर्शी वस्त्रों में लिपटी हुई स्वर्णजुही सी जगर मगर करने वाली देह-दुति वाली नायिकाएँ सामन्त-सरदारों के मनोरंजन का साधन थीं। बारीक रेशमी साड़ी पहनने पर उसकी अंग-कान्ति इस तरह शोभन प्रतीत होती थी मानो जलचादर के भीतर जगमगाती हुई दीप-ज्योति। बारीक नीले घूँघट की ओट से झाँकता हुआ नायिका का चन्द्र मुख ऐसा लगता था मानो कालिन्दी के नीले जल में झिलमिलाता हुआ चन्द्रमा। अंग-ज्योति के सम्बन्ध में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। पर जब नायिका की सखी उसकी हँसौही बान के विषय में सावधान रहने को कहती है तो गजब हो जाता है--

**नेकु हँसौही बानि तजि, लख्यौ परत मुख नीठि !**
**चौका चमकनि चौंध में परत चौंधिसी डीठि ॥**

वास्तविकता यह थी कि सामन्तीय जीवन का झुकाव सामान्य के प्रति न होकर असामान्य के प्रति होता था। ऐसी स्थिति में नायिकाओं का भी अनेक दृष्टियों से आकर्षक और शोभन होना आवश्यक था।

नायिकाओं की अनेकानेक चेष्टाओं का वर्णन--कदाचित् रीतिकालीन अन्य कवियों की अपेक्षा बिहारी-सतसई में इसकी अधिकता है--उपर्युक्त तथ्य को ही प्रमाणित करता है। चेष्टाओं का विस्तृत वर्णन पीछे किया जा चुका है। यहाँ पर एक उदाहरण अलम् होगा--

**भौंह उँचै, आँचर उलटि मौर मोरि मुँह मोरि।**
**नीठि नीठि भीतर गई डीठि डीठि सों जोरि ॥**

ये चेष्टाएँ ऐसी हैं जिनमें रसिक आकंठ मग्न गहते थे। जरा उनका निरपेक्ष दृष्टिकोण भी देखे--

**अहे दहेंड़ी जिन धरै जिन तूँ लेहि उतारि।**
**नीकें ह्वै छीकें छुवै ऐसे ही रहि नारि ॥**

प्रेम-क्रीड़ा को व्यक्त करने के लिए रीतिकालीन कवियों ने अनेक उत्सव, तीर्थ, खेलकूद, नृत्य, गान, कूप, तड़ाग, दोला, व्रत, त्योहार आदि को भी संदर्भ के रूप में ग्रहण किया है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि संस्कृति

और कला प्रेमोन्नयन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर इस सांस्कृतिक ह्रास के युग में इन्हें उन्नयन के रूप में न स्वीकार करके उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया गया। इसका फल यह हुआ कि इनकी स्वतन्त्र सत्ता लुप्त हो गई।

उत्सव के नाम पर फाल्गुनोत्सव का वर्णन इस काल के कवियों ने बहुत किया है। यों अपने आप में इस उत्सव का काफी महत्व है। मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह मानसिक रेचन का काम करता है। बिहारी, देव, पद्माकर, बेनी प्रवीन, घन आनन्द, ठाकुर, ग्वाल आदि कवियों ने इस महोत्सव का रँगीन वर्णन किया है। 'होली के हुरदंग' का ऐसा ऐन्द्रिय चित्र अन्यत्र कहीं शायद ही मिले।

'ऋतु के अनुकूल, केसरिया और पीत वस्त्रों की बहार, कोकिल और पपीहे की पुकार, नृत्य, वाद्य, गुलाल-केसर और अबीर की झोली, पिचकारी की फुहार, स्त्री-पुरुषों की लपक-झपक, धर-पकड़, रीझ-खीझ, भाग-दौड़, वस्त्रों की खींचा-तनी, डफ-ढोल, मृदंग, वंशी आदि सभी उपकरणों को एकत्र किया गया है।[1] पर इसके वर्णन मे बिहारी की दृष्टि औरो से किंचित् भिन्न है। इनका दृष्टिकोण इतना टिपिकल सामंतीय है कि दूसरों से अलग हो गया है। कुछ उदाहरण देखिए--

**( १ ) ज्यों ज्यों पटु झटकति हठति हँसति नचावति नैन।**
**त्यों त्यों निपट उदारहूँ फगुवा देत बनै न॥**

**( २ ) पीठि दियें ही नैकु मुरि, कर घूँघट पट टारि।**
**भरि गुलाल की मूठि सों गई मूठि सी मारि॥**

इनमें फाग के अन्तर्गत नायिका की चेष्टाओं का जो इतना ध्यान रखा गया है वह क्रीड़ात्मक दृष्टिकोण का द्योतक है।

अब जरा हिंडोरे का दृश्य देखिए--

**( १ ) हेरि हिंडोरे गगन तें परी परी सी टूटि।**
**धरी धाय पिय बीच ही करी खरी रस लूटि॥**

**( २ ) बरजे दूनी हठ चढ़ै ना सकुचै न सकाय।**
**टूटति कटि दुमची मचक लचकि लचकि बचि जाय॥**

---

१. डा० बच्चन सिंह : रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना, पृ० ३५३-५४

पहले दोहे में तो नायिका परी को नीचे गिरते देखकर नायक ने बीच में ही पकड़ कर खूब रस लूटा। दूसरे में कमर की लचक पर विशेष ध्यान दिया गया है।

'बैस-संधि-संक्रोन' को प्राप्त करने के लिए अशेष पुण्य की आवश्यकता होती है। इसमें सामन्तीय दृष्टिकोण की ललक कितनी साफ हो गई है। सूर्य जब एक राशि से दूसरी राशि पर संक्रमण करता है तो संक्रान्ति होती है। पर मकर संक्रान्ति का विशेष महत्त्व माना जाता है। इसका निर्देश करते हुए बिहारी कहते है—

**काहू पुन्यन पाइये बैस-संधि-संकोन।**

ग्राम जीवन की ओर दृष्टिपात करने पर भी वही सहेट-स्थल दिखाई पड़ता है—

**सन सूक्यो बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।**
**हरी हरी अरहरि अजौं, धर धरहरि उर नारि॥**

नीचे उद्धृत दोहों में सामन्तीय शब्दावली का व्यवहार उस काल के वातावरण को प्रत्यक्षीकृत कर देता है—

**(१) अपने अंग के जानिके, जोबन नृपति प्रवीन।**
**स्तन, मन नैन, नितंब कौं, बड़ौ इजाफा कीन॥**

**(२) नव-नागरि तन-मुलक लहि, जोबन आमिर-जोर।**
**घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम करी और की और॥**

मानवती तथा खंडिता नायिकायों की भरमार उच्चवर्गीय अवकाशभोगी वर्ग के सर्वथा अनुकूल है। निर्बाध अवकाश को काटने के लिए इससे बढ़कर और क्या साधन हो सकता था? चोर-मिहीचनी का खेल तो प्रेमपरक क्रीड़ा के लिए स्वर्ण-अवसर उपस्थित कर देता है—

**दोऊ चोर मिहीचनी, खेल न खेलि अघात।**
**दुरत हिये लपटाय कै, छुवत हिये लपटात॥**

पहले ही कहा जा चुका है कि बिहारी का पालन-पोषण मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। इस वर्ग के गहरे संस्कारों से उच्च वर्ग में सम्मिलित होकर भी वे अपने को मुक्त न कर पाए। मध्य वर्ग के जीवन के भी वे ही चित्र उन्होंने लिए है जो शृंगार से सम्बद्ध हैं। मायके जाते समय नायिका

की मनोदशा, गौने के समय उसकी मनोवृत्ति, देवर-भाभी का प्रेम-संबंध आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिनके आधार पर मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन की एक झलक मिल जाती है। बिहारी के अतिरिक्त इस काल के अन्य बहुत से कवियों ने भी इस वर्ग के प्रेमपरक प्रसंगों को अपना वर्ण्य विषय बनाया है। किंतु बिहारी के वर्णन में जो बंधान तथा अभिजात दृष्टिकोण दिखाई देता है वह अन्य कवियों में नहीं पाया जाता।

नैहर जाती हुई एक मध्यवर्गीय नायिका को देखिए—

**पिय बिछुरन कौ दुसहु दुखु हरषु जात प्यौसार।**
**दुरजोधन लौं देखियति तजत प्रान इहि बार॥**

मुग्धावस्था में उसे नैहर जाते समय प्रिय के वियोग का दुःख नहीं होता था उस समय नैहर के प्रति, माता-पिता तथा अपने परिजनों के प्रति विशेष ममत्व के कारण विदा-वेला में हर्ष ही अधिक होता है। किन्तु अब मध्यावस्था में उसे ससुराल के प्रति मोह हो गया है। किंतु नैहर का ममत्व भी कैसे छूट सकता है। इसलिए वह एक प्रकार के द्वंद्व में पड़ गई है। एक ओर तो उसे प्रिय से बिछुड़ने का दुःख है और दूसरी ओर मायके जाने का हर्ष भी हो रहा है। इस तरह की मनोदशा प्रायः मध्यवर्ग में ही विशेष रूप से देखी जाती है।

मध्यवर्गीय परिवारों में देवर-भाभी का विनोद प्रायः चला करता है। सामान्यतः यह विनोद बहुत ही पवित्र और सुखद होता है। हो सकता है कि एक समय ऐसा रहा हो जब देवर भाभी को मातृतुल्य मानता रहा हो। बाल्मीकीय रामायण के आधार पर इसको पुष्ट किया जा सकता है। एक जमाना वह भी आया जब दोनों का सम्बन्ध शुद्ध विनोद तक सीमित रहा। पर रीतिकालीन देवरों का आदर्श देखिए—

**कहति न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति।**
**पंजर-गत मंजार ढिग सुक लौं सूकति जाति॥**

इस पर रत्नाकर जी ने 'अवतरण' में लिखा है—'देवर अपनी भौजाई से अनुचित प्रेम करना चाहता है। पर भौजाई पतिव्रता तथा सुशीला है। अतः बड़ी चिंतित है। यदि वह देवर की खुटाई नहीं कहती, तो उसे भय है कि कहीं, अवसर पाकर, वह उसको आलिंगन इत्यादि न कर ले, और यदि कहती

है, तो भाई-भाई में तथा देवर देवरानी में कलह होता है। इस अड़चन में पड़ी हुई वह सूखती जाती है···।'

किसी मध्यवर्गीय स्त्री के लिए यह द्विधा की स्थिति बहुत ही स्वाभाविक है। सम्मिलित कुटुम्ब में प्रत्येक व्यक्ति का यह पवित्र कर्त्तव्य होता है कि वह उसे विघटित होने से बराबर बचाता रहे। सम्मिलित कुटुंब अपने आप में मध्यवर्गीय मर्यादा का प्रतीक है। अनेकानेक अत्याचारों को मूक भाव से सहन करते हुए भी व्यक्ति इसकी सुरक्षा पर आघात नही पहुचाना चाहता था। आधुनिक युग में आर्थिक संकटो की मार से सम्मिलित कुटुम्ब तेजी से टूट रहा है पर पहले स्थिति ऐसी नही थी। उक्त दोहे में सम्मिलित कौटुम्बिक प्रणाली के अन्तर्गत भाभी की मनोदशा का जो चित्र खींचा गया है वह बहुत ही स्वाभाविक बन पड़ा है।

प्रेम उत्पन्न होने के लिए आवश्यक है कि नायक-नायिका के मिलने का कोई अवसर मिले। सूरदास ने गोपियों और कृष्ण के प्रेम को पल्लवित-पुष्पित करने के लिए बहुत से अवसरों को ढूँढ़ निकाला है। यमुना तट तथा कुंज-वन में उनसे प्रायः भेट हो जाया करती है। गोचारण का अवसर भी इसके लिए उपयुक्त माना गया। मध्यवर्गीय परिवार में किसी वस्तु के घट जाने पर एक परिवार का कोई व्यक्ति ( सामान्यतः स्त्री ) पड़ोसी के घर से उसे माँग लाता है। बिहारी ने प्रेमोत्पादन में एक ऐसे अवसर का उपयोग किया है--

**फेरु कछुक करि पौर तैं, फिरि, चितई मुसुकाइ।**
**आई जावनु लैन, तिय नेहै चली जमाइ॥**

आई तो थी वह जामन लेने पर नायक के हृदय में स्नेह जमा कर चली गई।

परिधान, प्रसाधन और अलंकारों के आधार पर भी बिहारी के देखे हुए समाज को तीन भागों में बाँटा जा सकता है--निम्नवर्ग, मध्यवर्ग और उच्च अथवा सामंतीय वर्ग। निम्नवर्ग का आर्थिक स्तर बहुत ही नीचा था इसलिए उनके लिए कीमती वेष-भूषा अकल्पनीय थी। स्त्रियाँ सामान्यतः घुंघची अथवा सीप की माला पहनती थी। चमकदार टिकुली भी वे पहनती रही होंगी। आज भी आधुनिक सभ्यता से अपरिचित निम्नवर्गीय स्त्रियाँ चमकदार टिकुली

पहने हुए दीख पड़ती हैं। वे ललाट पर आड़े तिलक भी लगाती रही होंगी। बेंदी के रूप में वे सनई के फूल का प्रयोग करती थीं।

मध्यवर्ग की वेषभूषा भी सामान्य ही थी—आर्थिक दृष्टि से बहुत सम्पन्न न होने के कारण उनके लिए यही स्वाभाविक था। वे हाथ में अँगूठी, छल्ला, कमर में करधनी, पैरों में नूपुर, पाँव के अँगूठे में अनवट, अँगुलियों में बिछिया पहनती रही होंगी।

उच्च वर्गीय स्त्रियों की वेष-भूषा काफी कीमती होती थी। इसके लिए उनके पास अर्थ की कमी नहीं थी। वे जरीदार कोर की साड़ियाँ, 'चिनौटिया' अथवा धूपछाही रंग के मूल्यवान परिधान पहनती थीं। वे बेंदियाँ पहनती थीं तो हीरे की जड़ी हुई, नाक में सीकें पहनती थीं तो नीलमणि से जड़ी हुई, ललाट पर टीका धारण करती थीं तो मणि माणिक्य से संयुक्त, बेसरें ऐसी पहनती थीं जिनमें मोती झूलते थे। प्रसाधनों में कर्पूर, अंगराग, चंदन, गुलाबजल आदि प्रयोग में आते थे।

यों शृंगार का सामान्य रूप निम्नलिखित था—

**बेंदी भाल, तँबोल मुँह, सीस सिलसिले बार।**
**दृग आँजे, राजै खरी एई सहज सिंगार॥**

जिन वेष-भूषाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है वे तत्कालीन चित्रों में भी दिखाई पड़ती हैं। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में उनका व्यवहार होता था।

किसी कवि की रचनाओं में वर्णित सामग्री के आधार पर उस युग को प्रत्यक्षीकृत तभी किया जा सकता है जब यह अच्छी तरह समझ लिया जाय कि उसमें से कितना परंपरा से गृहीत है और कितना तत्कालीन वातावरण से। पर यह कार्य सरल नहीं। इसके लिए प्रभूत ऐतिहासिक साक्ष्यों का आकलन करना होगा। कवि सामान्यतः काव्य-परंपरा में सुरक्षित बहुत से अलंकारों प्रसाधनों आदि का प्रयोग करते रहते हैं। इसलिए किसी आलोच्य कृति में वर्णित समाज का लेखा-जोखा केवल बाह्यालंकारों और प्रसाधनों के आधार पर ही नहीं प्रस्तुत किया जा सकता।

लेकिन काव्य-परंपरा में उल्लिखित सामग्री का उपयोग करने पर भी

कवि के दृष्टिकोण पर युग की कुछ ऐसी छाप पड़ी रहती है कि उसके अध्ययन पर तत्कालीन समाज की रूप रेखा का निर्माण किया जा सकता है। यही कारण है कि किसी काल विशेष की ऐतिहासिक सांस्कृतिक स्थिति की जानकारी के लिए इतिहासकार उस काल की साहित्यिक सामग्री की भी परीक्षा करते हैं। बिहारी के देखे हुए समाज को इसी दृष्टि से परीक्षित किया गया है।

बिहारी का अपना दृष्टिकोण, जैसा, पहले ही कहा जा चुका है, पूर्णतः सामंतीय था। इसलिए इस वर्ग का वर्णन उन्होंने जितनी ईमानदारी से किया है उतनी ईमानदारी से अन्य वर्ग का नहीं। अन्य वर्ग का चित्रण उतनी ईमानदारी से वे कर भी नहीं सकते थे। इसलिए निम्न वर्ग के प्रति अथवा गाँव के प्रति जो उपहास गर्भित उक्तियाँ मिलती हैं वे स्वयं गाँव या निम्न वर्ग की स्थिति न अंकित कर बिहारी के नागर दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती हैं।

मध्यवर्गीय परिवार की कुछ ही बातें वास्तविक ज्ञात होती हैं। अधिकांश सामंतीय चश्में से ही देखी गई हैं। मध्य वर्ग का घेरा काफी व्यापक होता है। घरेलू जीवन की चुहलबाजियों, सौतों का सापत्न्य द्वेष आदि उच्च मध्य वर्ग की विशेषताएँ हैं जो सामंतीय जिन्दगी के मेल में होती थीं। अतः बिहारी के समाज को देखने के लिए सामंतीय कुहासे का बराबर ध्यान रखना होगा।

---

१०

# ऐंद्रिय बोध और बिहारी

समग्र हिंदी साहित्य में रामचरित मानस को छोड़कर किसी भी ग्रंथ को उतनी लोकप्रियता नहीं मिली जितनी बिहारी सतसई को प्राप्त हुई। खुली शृंगारिकता के प्रति बहुत कुछ अरुचि हो जाने के बाद भी उसकी ख्याति में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। क्या 'सतसई' की चामत्कारिकता को उसकी ख्याति का कारण माना जा सकता है ? पर चमत्कार का मुलम्मा बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति में उसकी प्रसिद्धि के कारणों को सतसई गत काव्योचित मूल्यों में ही खोजना होगा।

हिंदी सतसइयों की परंपरा में बिहारी सतसई का शीर्ष स्थानीय होना इस तथ्य का प्रमाण है कि उसमें अन्य सतसइयों की अपेक्षा कुछ विशेष अधिक है।[1] उसकी टीकाओं की परंपरा भी कम लंबी नहीं है।[2] ये टीकाएँ

---

१—बिहारी की देखा देखी 'मतिराम सतसई', 'शृंगार सतसई', 'चन्दन सतसई', 'वृन्द सतसई', 'वीर सतसई', 'दुलारे दोहावली' आदि का प्रणयन हुआ। इससे पता लगता है कि उस सतसई का प्रभाव आधुनिक युग में भी निश्शेष नहीं हुआ। पण्डितों और प्रवीणों ने उनका आदर भी किया। वियोगी हरि को 'वीर सतसई' पर मंगला-प्रसाद पारितोषिक तथा दुलारे दोहावली पर देव पुरस्कार मिला।

२—कृष्णलाल की टीका, मान सिंह की टीका, चारणदास की टीका, पठान सुलतान की कुण्डलियों वाली टीका, अनवर चंद्रिका टीका, राजा गोपालशरण की टीका, कृष्ण कवि की कवित्तबन्ध टीका, साहित्य चन्द्रिका टीका, अमर चन्द्रिका टीका, रघुनाथ बन्दीजन की टीका, रसचन्द्रिका टीका, हरिप्रकाश टीका, लाल कवि बन्दीजन

इस बात की द्योतक हैं कि पठन-पाठन के क्षेत्र में सतसई का विशेष प्रसार था। यह सब सतसई की आंतरिक विशेषताओं के कारण हुआ।

सतसई का कथ्य तथा शैली दोनों ही अपने युग-सामंतीय युग-की विशिष्टताओं से समन्वित होने के कारण ईमानदारी की दृष्टि से अन्यतम है। सामंतीय ऐंद्रिय बोध के अनुरूप जिस भाषा शैली का प्रयोग बिहारी ने किया वह एक ऊँचाई पर पहुँच जाने के बाद आगे नहीं बढ़ सकी। बाद की सतसइयाँ बिहारी की अनुकृति पर लिखी जाने के कारण प्रायः ताजगी से शून्य हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परवर्ती सतसइयाँ कहीं पर भी बिहारी से आगे नहीं बढ़ पातीं। किंतु सतसइयों पर समग्रतः विचार करने पर बिहारी सतसई बेजोड़ सिद्ध होती है।

बिहारी सतसई के बाद यदि किसी अन्य श्रेष्ठ सतसई का नामोल्लेख होगा तो मतिराम सतसई का। बिहारी और मतिराम लगभग समसामयिक थे। एक पीढ़ी के कवि होने के नाते उनका ऐन्द्रियबोध ( Sensibility ) भी मिलता जुलता था। ( यह आवश्यक नहीं है कि एक समय के दो कवियों के ऐन्द्रियबोध ( Sensibility ) में समानता हो ही। कभी-कभी ऐन्द्रियबोध की विभिन्नता के कारण एक कवि समसामयिक प्रतीत होता है तो दूसरा कई शताब्दी पहले का। ) एक युग के दो कवियों में यदि वे युगीन चेतना के प्रति जागरूक हों तो, लगभग एक प्रकार का ऐंद्रियबोध होता है और उनका

---

कृत लाल चन्द्रिका टीका, प्रतापचन्द्रिका टीका, अमर सिंह कायस्थ राजनगर छतरपुर की अमर चन्द्रिका टीका, सतसैया-बर्णार्थ अर्थात देवकीनन्दन टीका, रणछोड़जी की टीका, लल्लूलालजी की लालचन्द्रिका टीका, रामजू की टीका, नव्वाब जुल्फिकार अली की कुण्डलिया, ईश्वरीप्रसाद कायस्थ कृत कुण्डलिया, सरदार कवि की टीका, गदाधरजी की टीका, धनंजय तथा गिरिधर की टीकाएँ, रस कौमुदी टीका, अयोध्याप्रसाद की टीका, रामबक्स कृत तथा गंगाधर कृत टीकाएँ, प्रभुदयाल पाँडे की टीका, छोटूराम कृत वैद्यक टीका, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास की कुण्डलियाँ, भावार्थ प्रकाशिका टीका, साहेबजादे बाबा सुमेर सिंह की कुंडलियाँ, गुलदस्तए बिहारी, भानुप्रताप तिवारी की टीका, संजीवन भाष्य टीका, गुलजारे बिहारी टीका, बिहारी बोधिनी टीका, कुलपति मिश्र, उमेदराम तथा सूर्यमल्ल की टीकाएँ, धनीराम की टीका, संस्कृत गद्य टीका, आर्या गुंफ टीका, भावार्थ प्रकाशिका गुजराती टीका, ईश्वर कवि की सवैया छन्द टीका, जोशी आनन्दीलाल की फारसी टीका, बिहारी रत्नाकर टीका। ( इन टीकाओं के विस्तृत विवरण के लिए देखिए जगन्नाथदास रत्नाकर कृत 'कविवर बिहारी' पृ० १६७-३११ ) आजकल बाजारों में और भी टीकाएँ आ गई हैं।

प्रयुक्त शब्दावली ( idioms ) में भी एक तरह की समानान्तरता आ जाती है। यह सब होते हुए भी मतिराम में न वह कसाव है और न वह व्यंजक शब्द-योजना जो बिहारी सतसई में पाई जाती है।

बिक्रमसाहि और रामसहाय की सतसइयों तथा बिहारी की सतसई के रचनाकाल में लगभग दो सौ वर्षों का अन्तर है। एक पीढ़ी का ऐन्द्रियबोध दूसरी पीढ़ी की इच्छा के प्रतिकूल भी बदल जाता है। जो लोग इस परिवर्तन को परिलक्षित कर लेते हैं वे अपनी नवीन अनुभूतियों को नई शब्दावली देना चाहते हैं। इस चेतना के अभाव में वे लकीर पीटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। उक्त दोनों सतसइयों में बिहारी की अत्यधिक अनुकृति मिलती है। यह अनुकरण शब्दावली के प्रयोग तक ही सीमित है, बिहारी सतसई के अन्तरंग का अनुकरण सम्भव भी कैसे होता। अच्छी विशेषताओं का अनुकरण प्रायः नहीं हो पाता। रामसहाय की सतसई के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है—

'...बिहारी के अनुकरण पर बनी हुई पुस्तकों में इसी को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके बहुत से दोहे सरस उद्भावना में बिहारी के दोहों के पास तक पहुंचते हैं। पर यह कहना कि ये दोहे बिहारी के दोहों में मिलाए जा सकते हैं रसज्ञता और भावुकता से ही पुरानी दुश्मनी निकालना नहीं, बिहारी को भी नीचे गिराने का प्रयत्न समझा जायगा।...जहाँ तक शब्दों की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से सम्बन्ध है वहीं तक अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है और सफलता भी हुई है। पर हावों का वह सुन्दर विधान, चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण, भाषा का वह सौष्ठव, संचारियों की वह सुन्दर व्यंजना इस सतसई में कहाँ ?...'[१]

आधुनिक सतसइयों में वियोगी हरि की 'वीर सतसई' का विशेष सम्मान हुआ। इसकी प्रतिष्ठा के दो कारण हैं—एक तो यह शृंगार सतसई न होकर वीर सतसई है, जिससे पिष्टपेषण नहीं हो पाया; दूसरे कथ्य के अनुकूल शब्द-योजना भी परिवर्तित हो गई है। बिहारी की परम्परा में पड़नेवाली 'दुलारे दोहावली', जिसमें बिहारी की बारीकी, वैदग्ध्य, चमत्कारिता आदि के दर्शन होते हैं, कुछ दिनों तक रीतिकालीन मनोवृत्ति वाले सहृदयों का मनोरंजन कर लुप्त प्राय हो गई। बिहारी सतसई एक विशेष युग में ही लिखी जा सकती थी, उसके बाद उसकी अनुकृति ही सम्भव है।

---

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, आठवाँ संस्करण, पृ० ३८८

इस काल के दूसरे विशिष्ट कवि देव, जिन्हें बिहारी की तुलना में बार बार ले आया जाता है, मुख्यतः कवित्त सवैये के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करते रहे। उन्होंने अलग ढंग से अनुभव किया और उसकी अभिव्यक्ति के लिए अलग माध्यम ग्रहण किया। इसके फलस्वरूप उनकी शब्दावली ( इडियम ) भी कुछ भिन्न हो गई। कुछ युगीन विशेषताओं को छोड़ कर दोनों कवियों की परंपराएँ अलग अलग थीं—बिहारी मुक्तक काव्य परंपरा में पड़ते हैं तो देव रीतिबद्ध काव्य परंपरा में। इसके अतिरिक्त दोनों की जीवन दृष्टि में एक प्रकार की समानता होते हुए भी ऐंद्रियबोध में विभिन्नता थी। एक का ऐंद्रियबोध वस्तुनिष्ठ था तो दूसरे का आत्मनिष्ठ। इस विभिन्नता के कारण बिहारी की अभिव्यक्ति में एक विशेष प्रकार की सजगता और सतर्कता आ गई तो देव की अभिव्यक्ति में भावाविष्ट आवेगमयता। अतः दोनों के दृष्टिकोण की तुलना तो की जा सकती है, पर दोनों के काव्य को तुलनात्मक दृष्टि से देखना तुलनात्मक आलोचना के साथ अन्याय करना है।

इस संबंध में डा० नगेंद्र का कहना है—'बिहारी में सौंदर्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण कर शब्दबद्ध करने की जैसी अपूर्व क्षमता है, वैसी देव अथवा रीतियुग के किसी भी कवि में नहीं है—परन्तु सौंदर्य में पूर्णतः रसमग्न होने की क्षमता देव में उनसे कहीं अधिक है। समग्र रूप से विचार करते हुए देव के काव्य की आत्मा बिहारी के काव्य की आत्मा से अधिक समृद्ध है। काव्य शिल्प की दृष्टि से दोनों पक्ष समान रूप से प्रबल हैं—यद्यपि यहाँ भी टेकनीक दोनों की सर्वथा भिन्न है। देव की अपेक्षा बिहारी की कला अधिक सचेष्ट है—उन्होंने कला का माध्यम भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म ही चुना है। स्वभावतः उनके शिल्प का मुख्य गुण है जड़ाव। इसके विपरीत देव के शिल्प में कोमल सामंजस्य अधिक है। बिहारी की भाषा देव की भाषा से अधिक प्रौढ़ है। उसकी लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक शक्ति अत्यंत विकसित, तथा समासगुण अद्भुत है। उधर देव की भाषा में झंकृति, संगीत और औज्वल्य अधिक है। अतएव शिल्पी रूप में दोनों के सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय निर्णायक की रुचि पर ही निर्भर है[1]। किंतु जहाँ तक काव्य के उत्कर्षापकर्ष

१—डा० नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पृ० २६८।

का सवाल है वह भी निर्णायक की रुचि पर ही निर्भर है। ध्वनिवादी को बिहारी का काव्य अधिक काव्य-गुण-समन्वित मालूम पड़ेगा तो रसवादी को देव का। इसीलिए प्रारंभ में ही इसका संकेत किया जा चुका है कि ऐंद्रियबोध की असमानता के कारण दोनों की तुलना औचित्यपूर्ण नहीं मानी जा सकती।

मतिराम बिहारी और देव के मध्यवर्ती हैं। उनमें आंशिक रूप से भावात्मक तरलता और सतर्कता दोनों है। उन्होंने आत्माभिव्यक्ति के लिए दोनों प्रकार के माध्यमों—दोहा तथा कवित्त-सवैया—को ग्रहण किया है। पद्माकर की काव्यानुभूति शक्तिमती अवश्य है पर देव की तरह भाषा की चुस्ती का उनमें भी अभाव है। इस काल में क्लैसिकल परिपक्वता बिहारी में ही प्राप्त होती है।

ऐन्द्रियबोध ( Sensibility ) की विभिन्नता के कारण अभिव्यक्ति की पद्धति में जो अंतर आता है उससे कवियों की अपनी अलग अलग विशेषताएँ उद्घाटित की जा सकती हैं। किंतु यदि बिहारी के ऐन्द्रियबोध के अंतर का स्पष्टीकरण कर लिया जाय तो उनके मूल्यानुचिंतन में अधिक सहायता मिलेगी।

किसी व्यक्ति को बाह्य जगत का बोध किसी न किसी इन्द्रिय के माध्यम से होता है। इसी के आधार पर स्मृतियों और कल्पनाओं का निर्माण होता है। पर यह ख्याल रखना चाहिए कि मानवीय इन्द्रियाँ कैमरे का लेंस नहीं हैं जो बाह्य आकृतियों को ज्यों का त्यों उतार लें। यह प्रमा ( Perception ) परक ज्ञान फोटोग्रैफी के ज्ञान से भिन्न होता है। व्यक्ति की विचित्रताएँ और वैयक्तिक विशेषताएँ बाह्यबोध को बहुत कुछ नए रूप में ढाल देती हैं। इसीलिए प्रमात्मक बोध को मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक ज्ञान से अधिक माना है; यह एक मानसिक प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति के अन्तरजीवन की परख होती है।

इस ऐन्द्रियबोध की जो प्रतिक्रिया होती है वह मुख्यतः दो प्रकार की होती है—संवेदनात्मक तथा आवेगात्मक। संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का संबंध संयम, सुरुचि और संस्कृति से होता है तो आवेगात्मक प्रतिक्रिया का संबंध जैविक जगत से होता है। बिहारी के अतिरिक्त रीतिकाल के शेष प्रतिनिधि कवियों में आवेगमयता का प्राधान्य है। उन कवियों की तुलनात्मक विवेचना

करते समय उनकी आवेगमयता के विभिन्न दर्जों की व्याख्या करनी पड़ेगी। बिहारी का वैशिष्ट्य उनके संवेदनात्मक काव्य-चित्रों में निहित है जो व्यापक काव्य-चेतना और मानसिक संघटन की अपेक्षा रखता है।

आवेगात्मक काव्य जैवी मनोवृत्तियों से संबद्ध होने के कारण पाठकों के मन पर शीघ्रतापूर्वक गहरा प्रभाव डालकर उन्हें आंदोलित करने में पूर्णतः समर्थ होते हैं। संवेदनात्मक काव्य अपेक्षाकृत व्यापक जीवन-भूमि की पीठिका रखते हैं, इसलिए उनकी अनुगूंज भी अधिक स्थिर और गहरी होती है। बिहारी के काव्य का वैशिष्टय उनकी संवेदनात्मक अनुगूंज में है, उनके ऐन्द्रियबोध की विशेषता में है, उनकी शब्दावली (Idioms) के अनूठे प्रयोग में है।

यहीं पर यह भी विचारणीय है कि यदि बिहारी और इस युग के अन्य प्रतिनिधि कवियों का ऐन्द्रियबोध और शब्दावली उस युग के अनुरूप है और वे कवि कम प्रतिभासम्पन्न भी नहीं हैं तो उन्हें प्रथम श्रेणी के महाप्राण कवियों में गिना जा सकता है? उत्तर होगा नहीं। एक ओर जाने-अनजाने सभी लोग इस काल की कविताओं की शृंगार-माधुरी पर मुग्ध दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर उनके दृष्टि-संकोच, बँधी वाग्धारा की शिकायत भी करते हैं। वास्तविकता यह है कि ये सभी कवि लक्षणों और उदाहरणों दोनों में विगत आदर्शों की रक्षा करते हुए दीख पड़ते हैं। उन कविता के सभी आदर्श सामंतीय आदर्श के मेल में होने के कारण उस घेरे के बाहर नहीं झाँक पाते यदि व्यापक सामंतीय आदर्शों को भी समग्रतः आकलित किया गया होता तो भी उन्हें व्यापक भावभूमि मिल जाती।

समस्त युग की कविताओं का आलोड़न करने पर कहीं भी उस आवेग के दर्शन नहीं होते जो रुद्ध जीवन-धारा को मार्ग दे सके। उनके द्वारा कहीं भी नवीन चिन्तन और सर्जनात्मक जीवन-चेतना को बल नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में यह युग अल्पप्राण कवियों का युग ही कहा जायगा।

———

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बॉक्स नं० ७०, ज्ञानवापी
वाराणसी–१.

मूल्य : ३.५० मात्र